-११ जनवरी-१९९२ अंक-१

रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा-८४१ ३०१ (बिहार)

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

९१. श्रीमती कमला घोष—इलाहाबाद
९२. श्री एस. डी. शर्मा – अहमदाबाद
९३. श्रीमती प्रभा भार्गव—बीकानेर (राजस्थान)
९४. श्री मणिकांत मिश्र—नारायणपुर (मध्य प्रदेश)
९५. श्री के० सी० सर्राफ—बम्बई
९६. श्री ए० के० चटर्जी, आइ. ए. एस.—पटना
९७. सचिव, थियोसोफिकल लॉज—छपरा (बिहार)
९८. श्री सुभाष वासुदेव—लुमडिंग (आसाम)
९९. श्री दिलीप देसाई, बरोदा (गुजरात)
१००. श्रीरामकृष्ण आश्रम—इन्दौर (म० प्र०)
१०१. सारदापीठ विद्यालय – इन्दौर (म० प्र०)
१०२. डॉ० ओमप्रकाश वर्मा—रायपुर (म० प्र०)
१०३. विवेकानन्द विद्यापीठ—भोपाल (म० प्र०)
१०४. रामकृष्ण मठ—जामतारा (बिहार)
१०५. श्री सुनील खण्डेलवाल—रायपुर (मध्य प्रदेश)
१०६. श्री वसन्त लाल गुप्ता—नागपुर (महाराष्ट्र)
१०७. श्री जयेश ब्रह्मभट्ट—पुणे (महाराष्ट्र)
१०८. श्री नरेन्द्र कुमार टाक—अजमेर (राजस्थान)
१०९. श्री महन्त युक्तिरामजी—जोधपुर (राजस्थान)
११०. श्री राय मनेन्द्र प्रसाद – जमशेदपुर (बिहार)
१११. कुमारी उषा हेगड़े - पुणे (महाराष्ट्र)
११२. श्री विनय प्रकाश—पुणे (महाराष्ट्र)
११३. डॉ० वी० सी० सिन्हा - रीवाँ (मध्य प्रदेश)
११४. डॉ० एच० पी० सिंह – रीवाँ (मध्य प्रदेश)
११५. मानस समिति, लुमडिंग (आसाम)
११६. श्रीरामचन्द्र गुप्त, लुमडिंग (आसाम)
११७. श्री चन्द्रकान्त स० नागपुरे (नागपुर)
११८. श्री अच्छे लाल श्रीवास्तव (उ० प्र०)
११९. संत जगदम्बिका (प्रयाग)
१२०. श्री अजय वलदवा, जयपुर (आसाम)
१२१. श्री बी० एस० दुबे, पुणे (महाराष्ट्र)
१२२. श्री पालीराम शर्मा, लुमडिंग (आसाम)

इस अंक में

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष -- ११ | १९९२—जनवरी | अंक—१

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक :
डॉ० केदारनाथ लाभ

संपादकीय कार्यालय
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)
फोन। ०६१५२-२६३९

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य— ५०० रु०
वार्षिक— ३० रु०
रजिस्टर्ड डाक से— ४५ रु०
एक प्रति— ४ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

यात्रा-अभिनय में शुरू में जब तक लोग मृदंग, करताल आदि बजाते हुए ऊँचे स्वर में 'हे कृष्ण, आओ, आओ' कहकर गाते रहते हैं, तब तक कृष्ण सज-धजकर आड़ में तम्बाकू पीते और गपशप करते बैठे रहते हैं। पर जब वह सब शान्त हो जाता है और नारद-ऋषि आकर वीणा बजाते हुए प्रेम सहित कोमल स्वर से गाते हुए पुकारने लगते हैं, "हे गोविन्द ! मेरे जीवन ! मेरे प्राण !" तब कृष्ण अधिक देर नहीं ठहर सकते, व्यग्र होकर तत्क्षण मंच पर आ जाते हैं। इसी तरह, जब तक साधक 'प्रभो, दर्शन दो, 'प्रभो दर्शन दो' कहकर जोरों से पुकारता रहता है, तब तक जानना कि प्रभु वहाँ नहीं आए हैं। जब प्रभु का आगमन होता है, तब साधक भाव से गद्गद हो चुप हो जाता है, फिर जोर से नहीं पुकारता। साधक जब भाव में गद्गद होकर प्रेममग्न हृदय से प्रभु का स्मरण करता है तब प्रभु भी आए बिना रह नहीं सकते।

(२)

सब कुछ भगवान् को समर्पित कर दो, स्वयं को भी समर्पित कर दो। ऐसा करने पर फिर कोई तकलीफ नहीं रह जाएगी। तब तुम देख पाओगे कि सब कुछ उन्हीं की इच्छा से हो रहा है।

(३)

जिसने स्त्री सुख का त्याग किया है उसने तो जगत्-सुख का त्याग किया है। वास्तविक ही ईश्वर उसके अत्यन्त निकट हैं।

जय विवेकानन्द नरवर !

—डा० केदार नाथ लाभ

जय विवेकानन्द नरवर ! वीर वीरेश्वर पुरारी !
पापहारी तापहारी, शोकहारी मोहहारी !
सुघड़ तन राजीव-लोचन
वसन गैरिक भुवन-मोहन
प्रखर दिनकर-तेज दीपित, मूर्त तप ऋत्-पथ विहारी !
विश्व-विपिन-मृगेन्द्र निर्भय
कर्मयोगी सदय चिन्मय
काम-कांचन-जयी यतिवर, ज्ञान-भक्ति-विरागधारी !
'जीव शिव' के मंत्र-दाता
आर्त जन के सबल त्राता
दीन-भ्राता मुक्ति-दाता, साम्य-उद्‌गाता, भिखारी !
कमल कोमल अमल अन्तर
महाप्राज्ञ विवेक-भास्वर
जय विदेह अगेह जय वेदान्त-विग्रह निर्विकारी !
जगद्-गुरु श्रद्धा-निकेतन
लुब्ध - चेतन धर्म-केतन
हरो भव-भय हे निरंजन, प्राण-धन आनन्दकारी !
जय विवेकानन्द नरवर ! वीर वीरेश्वर पुरारी !

युवाओं को आह्वान

—स्वामी विवेकानन्द

मेरी आशा, मेरा विश्वास नवीन पीढ़ी के नवयुवकों पर है। उन्हीं में से मैं अपने कार्यकर्त्ताओं का संग्रह करूंगा। वे सिंहविक्रम से देश की यथार्थ उन्नति सम्बन्धी सारी समस्या का समाधान करेंगे। वर्त्तमान काल में अनुष्ठेय आदर्श को मैंने एक निर्दिष्ट रूप में व्यक्त कर दिया है और उसको कार्यान्वित करने के लिए मैंने अपना जीवन समर्पित कर दिया हैं। ...वे एक केन्द्र से दूसरे केंद्र का विस्तार करेंगे-और इस प्रकार हम धीरे-धीरे समग्र भारत में फैल जाएंगे।

भारतवर्ष का पुनरुत्थान होगा, पर वह शारीरिक शक्ति से नहीं, वरन् आत्मा की शक्ति द्वारा। वह उत्थान विनाश की ध्वजा लेकर नहीं, वरन् शांति और प्रेम की ध्वजा से...मैं अपने सामने यह एक सजीव दृश्य अवश्य देख रहा हूँ कि हमारी यह वृद्ध माता पुनः एक बार जागृत होकर अपने सिंहासन कर नवयौवनपूर्ण और पूर्व की अपेक्षा अधिक महामहिमान्वित होकर विराजी है। शाँति और आशीर्वाद के वचनों के साथ सारे संसार में उसके नामा की घोषणा कर दो।

देखो, यह निद्रित भारत अब जागने लगा है। मनो हिमालय के प्राणप्रद वायु-स्पर्श से मृतदेह के शिथिलप्राय अस्थि मांस तक में प्राण-संचार हो रहा है। जड़ता धीरे-धीरे दूर हो रही है। जो अंधे हैं, वे ही देख नहीं सकते और जो विकृतबुद्धि हैं वे ही समझ नहीं सकते कि हमारी मातृभूमि अपनी गंभीर निद्रा से अब जाग रही है। अब कोई उसे रोक नहीं सकता। अब यह फिर सो भी नहीं सकती। कोई बाह्य शक्ति इस समय इसे दबा नहीं सकती क्योंकि यह असाधारण शक्ति का देश अब जागकर खड़ा हो रहा है।

एक नवीन भारत निकल पड़े—निकले हल पकड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, मछुआ, मोची, मेहतरों की झोपड़ियों से। निकल पड़े बनियों की दुकानों से, भुजवा के भाड़के पास से, कारखाने से, हाट से, बाजार से, निकले झाड़ियों, जंगलों, पहाड़ों पर्वतों से।

क्या भारत-मर जाएगा? तब तो संसार से सारी आध्यात्मिकता का समूल नाश हो जाएगा, सारे सदाचारपूर्ण आदर्श जीवन का विनाश हो जाएगा, धर्मों के प्रति सारी मधुर सहानुभूति नष्ट हो जाएगी, सारी भावुकता का भी लोप हो जाएगा। और उसके स्थान में कामरूपी देव और विलासितारूपी देवी राज्य करेगी। धन उनका पुरोहित होगा। प्रतारणा, पाशविक बल और प्रतिद्वंद्विता, ये ही उनकी पूजापद्धति होगी और मानवता उनकी बलिसामग्री हो जाएगी। ऐसी दुर्घटना कभी हो नहीं सकती।

भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं : त्याग और सेवा। आप इन धाराओं में तीव्रता उत्पन्न कीजिए, और शेष सब अपने आप ठीक हो जाएगा। तुम काम में लग जाओ; फिर देखोगे इतनी शक्ति आएगी कि तुम उसे सम्भाल न सकोगे। दूसरों के लिए रत्ती भर काम करने से भीतर की शक्ति जाग उठती है। दूसरों के लिए रत्ती भर सोचने से धीरे-धीरे हृदय में सिंह का-सा बल आ जाता है। तुम लोगों से मैं इतना स्नेह करता हूँ, परन्तु यदि तुम लोग दूसरों के लिए परिश्रम करते-करते मर भी जाओ तो भी यह देखकर मुझे प्रसन्नता ही होगी।

केवल वही व्यक्ति सब की अपेक्षा उत्तम रूप से कार्य करता है, जो पूर्णतया निःस्वार्थी है, जिसे न तो धन की लालसा हैं, न कीर्ति की और न

किसी अन्य वस्तु को ही। और मनुष्य जब ऐसा करने में समर्थ हो जाएगा, तो वह भी एक बुद्ध बन जाएगा, और उसके भीतर से ऐसी शक्ति प्रकट होगी, जो संसार की अवस्था को संपूर्ण रूप से परिवर्तन कर सकती है।

जब तक करोड़ों भूखे और अशिक्षित रहेंगे, तब तक मैं प्रत्येक उस आदमी को विश्वासघातक समझूँगा, जो उनके खर्च पर शिक्षित हुआ है, परन्तु जो उन पर तनिक भी ध्यान नहीं देता। वे लोग जिन्होंने गरीबों को कुचलकर धन पैदा किया है और ठाठ-बाट से अकड़कर चलते हैं, यदि उन बीस करोड़ देशवासियों के लिए जो इस समय भूखे और असभ्य बने हुए हैं, कुछ नहीं करते, तो वे घृणा के पात्र हैं।

हमेशा बढ़ते चलो! मरते दम तक गरीबों और पददलितों के लिए सहानुभूति—यही हमारा आदर्शवाक्य है। वीर युवको! बढ़े चलो! ईश्वर के प्रति आस्था रखो। किसी चालबाजी की आवश्यकता नहीं, उससे कुछ नहीं होता। दुखियों का दर्द समझो और ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करो – वह अवश्य मिलेगी। ...युवकों! मैं गरीबों, मूर्खों और उत्पीड़ितों के लिए इस सहानुभूति और प्राणपण प्रयत्न को थाती के तौर पर तुम्हें अर्पण करता हूँ।...प्रतिज्ञा करो कि अपना सारा जीवन इन तीस करोड़ लोगों के उद्धार कार्य में लगा दो, जो दिनों दिन अवनति के गर्त में गिरते जा रहे हैं। यदि तुम सचमुच मेरी संतान हो, तो तुम किसी वस्तु से न डरोगे, न किसी बात पर रुकोगे। तुम सिंहतुल्य होगे। हमें भारत को और पूरे संसार को जगाना है।

तुम तो ईश्वर की संतान हो, अमर आनन्द के भागी हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। अतएव तुम कैसे अपने को जबरदस्ती दुर्बल कहते हो? उठो साहसी बनो, वीर्यवान होओ। सब उत्तरदायित्व अपने कंधे पर लो—यह याद रखो कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है।

एक बात पर विचार करके देखिए, मनुष्य नियमों को बनाता है या नियम मनुष्य को बनाते हैं? मनुष्य रुपया पैदा करता है या रुपया मनुष्य को पैदा करता है? मनुष्य कीर्ति और नाम पैदा करता है या कीर्ति और नाम मनुष्य पैदा करते हैं? मेरे मित्रों, पहले मनुष्य बनिए, तब आप देखोगे कि वे सब बाकी चीजें स्वयं आपका अनुसरण करेंगी। परस्पर के घृणित द्वेषभाव को छोड़िए...और सदुद्देश्य, सदुपाय, सत्साहस एवं सद्वीर्य का अवलम्बन कीजिए। आपने मनुष्य योनि में जन्म लिया है तो अपनी कीर्ति यहीं छोड़ जाइए।

जाति तो व्यक्तियों की केवल समष्टि है। शिक्षा द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को उपयुक्त बनाने के सिवाय मेरी और कोई उच्चाकांक्षा नहीं है। अपनी चिंता हमें स्वयं ही करनी है। इतना तो हम कर ही सकते हैं।...क्योंकि दुनिया तभी पवित्र और अच्छी हो सकती है, जब हम स्वयं पवित्र और अच्छे हों। वह है कार्य और हम हैं उसके कारण। इसलिए आओ, हम अपने आप को पवित्र बना लें। आओ, हम अपने आप को पूर्ण बना लें।

केवल मनुष्यों की आवश्यकता है; और सब कुछ हो जाएगा, किन्तु आवश्यकता है वीर्यवान तेजस्वी, श्रद्धासम्पन्न और अन्त तक कपटरहित नवयुवकों की। इस प्रकार के सौ नवयुवकों से संसार के सभी भाव बदल दिए जा सकते हैं। और सब चीजों की अपेक्षा इच्छाशक्ति का अधिक प्रभाव है। इच्छाशक्ति के सामने और सब शक्तियाँ दब जाएँगी, क्योंकि इच्छाशक्ति साक्षात् ईश्वर से निकलकर आती है। विशुद्ध और दृढ़ इच्छाशक्ति सर्वशक्तिमान है।

मैंने तो इन युवकों का संगठन करने के लिए जन्म लिया है। यही क्या, प्रत्येक नगर में सैकड़ों

और मेरे साथ सम्मिलित होने को तैयार हैं, और मैं चाहता हूँ कि उन्हें अप्रतिहत गतिशील तरंगों की भांति भारत में सब ओर भेजूँ, जो दीन-हीनों एवं पददलितों के द्वार पर सुख, नैतिकता, धर्म एवं शिक्षा उड़ेल दें। और इसे मैं करूँगा या मरूँगा।

मैं सुधार में विश्वास नहीं करता, मैं विश्वास करता हूँ स्वाभाविक उन्नति में। मैं अपने को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित कर अपने समाज के लोगों के सिर पर यह उपदेश "तुम्हें इस भांति चलना होगा दूसरे प्रकार नहीं" —मढ़ने का साहस नहीं कर सकता : मैं तो सिर्फ उस गिलहरी की भांति होना चाहता हूँ जो श्री रामचन्द्रजी के पुल बनाने के समय थोड़ा बालू देकर—अपना भाग पूरा कर संतुष्ट हो गयी थी। यही मेरा भी भाव है।

मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि दूसरी चीज की आवश्यकता ही नहीं। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि राजनीतिक या सामाजिक उन्नति अनावश्यक है, किन्तु मेरा तात्पर्य यही है और मैं तुम्हें सदा इसको याद दिलाना चाहता हूँ कि ये सब यहाँ गौण विषय हैं, मुख्य विषय धर्म है। भारतीय मन पहले धार्मिक है, फिर कुछ और। हमारी आध्यात्मिकता ही हमारा जीवनरक्त है। यदि यह साफ बहता रहे, यदि यह शुद्ध एवं सशक्त बना रहे, तो सब कुछ ठीक है। राजनीतिक, सामाजिक, चाहे जिस किसी तरह की ऐहिक त्रुटियाँ हों चाहे देश की निर्धनता ही क्यों न हो, यदि खून शुद्ध है तो सब सुधर जाएँगे। इस भाँति भारत में सामाजिक सुधार का प्रचार तभी हो सकता है, जब यह देखा जाए कि उस नयी प्रथा से आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में कौन सी विशेष सहायता मिलेगी। राजनीति का प्रचार करने के लिए हमें दिखाना होगा कि उसके द्वारा हमारे राष्ट्रीय जीवन की आकांक्षा-आध्यात्मिक उन्नति-की कितनी अधिक पूर्ति हो सकेगी।

लोग स्वदेश भक्ति की चर्चा करते हैं। मैं स्वदेश-भक्ति में विश्वास करता हूँ, पर स्वदेश भक्ति के सम्बन्ध में मेरा एक आदर्श है। बड़े काम करने के लिए तीन चीजों की आवश्यकता होती है। बुद्धि और विचार शक्ति हम लोगों की थोड़ी सहायता कर सकती है। वह हमको थोड़ी दूर अग्रसर कर देती है और वहीं ठहर जाती है; किन्तु हृदय के द्वारा ही महाशक्ति की प्रेरणा होती है। प्रेम असंभव को सम्भव कर देता है। जगत् के सब रहस्यों का द्वार प्रेम ही है। अतः मेरे भावी संस्कारको, मेरे भावी देशभक्तो, तुम हृदयवान बनो। क्या तुम हृदय से समझते हो कि देव और ऋषियों की करोड़ों सन्तान पशुतुल्य हो गयी है? क्या हृदय में अनुभव करते हो कि करोड़ों आदमी आज भूखे मर रहे हैं और वे कई शताब्दियों से इस भांति भूखों मरते आ रहे हैं? क्या तुम समझते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को आच्छन्न कर लिया है? क्या तुम यह सब समझकर कभी अस्थिर हुए हो? क्या तुम कभी इससे अनिद्रित हुए हो? क्या कभी यह भावना तुम्हारे हृदय के स्पन्दन से कभी मिली है? क्या उसने कभी तुम्हें पागल बनाया है? क्या कभी तुम्हें निर्धनता और नाश का ध्यान आया है? क्या तुम अपने नाम-यश, सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने शरीर को भी भूल गये हो? क्या तुम ऐसे हो गये हो? यदि हो तो जानो कि तुमने स्वदेश भक्ति की प्रथम सीढ़ी पर पैर रखा है। जैसा तुममें से अधिक लोग जानते हैं, मैं धार्मिक महासभा के लिए अमेरिका नहीं गया था, किन्तु देश के जन-साधारण की दुर्दशा के प्रतिकार करने का भूत मुझमें – मेरी आत्मा में घुस गया था। मैं अनेक वर्ष तक समग्र भारत में घूमता रहा, पर अपने स्वदेशवासियों के लिए कार्य करने का मुझे कोई अवसर नहीं मिला, इसीलिए मैं अमेरिका गया। तुममें से अधिकांश जो मुझे उस समय जानते थे, इस बात को अवश्य जानते हैं। इस धार्मिक महासभा की कौन परवाह करता था? यहाँ मेरे रक्तमांसस्वरूप जनसाधारण की दशा हीन होती जाती थी,

उनकी कौन खबर ले ? स्वदेशहितैषी होने की यह मेरी पहली सीढ़ी है।

उठो, जागो, स्वयं जगकर औरों को जगाओ अपने नर-जन्म को सफल करो। "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्नबोधत— उठो, जागो और तब तक रुको नहीं, जब तक लक्ष्य प्राप्त न हो जाए।"

जो अपने आप में विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है। प्राचीन धर्मों ने कहा है, वह नास्तिक है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता। नया धर्म कहता है, वह नास्तिक है जो अपने आप में विश्वास नहीं करता।

यह एक बड़ी सच्चाई है; शक्ति ही जीवन और कमजोरी ही मृत्यु है। शक्ति परम सुख, जीवन अजर अमर है; कमजोरी कभी न हटने-वाला बोझ और यन्त्रणा है; कमजोरी ही मृत्यु है।

उपनिषदों में यदि कोई एक ऐसा शब्द है, जो वज्रवेग से अज्ञानराशि के ऊपर पतित होता है, उसे बिल्कुल उड़ा देता है, तो वह है 'अभीः'— निर्भयता। संसार को यदि किसी एक धर्म की शिक्षा देनी चाहिए, तो वह है "निर्भीकता"। यह सत्य है कि इस ऐहिक जगत् में, अथवा आध्यात्मिक जगत् में भय ही पतन तथा पाप का कारण है। भय से ही दुःख होता है, यही मृत्यु का कारण है तथा इसी के कारण सारी बुराई तथा पाप होता है।

सब से पहले हमारे तरुणों को मजबूत बनना चाहिए। धर्म इसके बाद की वस्तु है। मेरे तरुण मित्रो ! शक्तिशाली बनो, मेरी तुम्हें यही सलाह है। तुम गीता के अध्ययन की अपेक्षा फुटबाल के द्वारा ही स्वर्ग के अधिक समीप पहुँच सकोगे। ये कुछ कड़े शब्द हैं, पर मैं उन्हें कहना चाहता हूँ, क्योंकि तुम्हें प्यार करता हूँ। मैं जनता हूँ कि कांटा कहाँ चुभता है। मुझे इसका कुछ अनुभव है। तुम्हारे स्नायु और मांसपेशियां अधिक मजबूत होने पर तुम गीता अधिक अच्छी तरह समझ सकोगे। तुम अपने शरीर में शक्तिशाली रक्त होने पर, श्रीकृष्ण के तेजस्वी गुणों और उनकी अपार शक्ति को अधिक समझ सकोगे। जब तुम्हारा शरीर मजबूती से तुम्हारे पैरों पर खड़ा रहेगा और तुम अपने को 'मनुष्य' अनुभव करोगे, तब तुम उपनिषद् और आत्मा की महानता को अधिक अच्छा समझ सकोगे।

हम देख सकते हैं कि एक तथा दूसरे मनुष्य के बीच अन्तर होने का कारण उनका अपने आप में विश्वास होना और न होना ही है। अपने आप में विश्वास होने से सब कुछ हो सकता है मैंने अपने जीवन में इसका अनुभव किया है, अब भी कर रहा हूँ और जैसे-जैसे मैं बड़ा होता जा रहा हूँ, मेरा विश्वास और भी दृढ़ होता जा रहा है।

प्रत्येक आत्मा ही अव्यक्त ब्रह्म है बाह्य एवं अन्तः प्रकृति, दोनों का नियमन कर, इस अन्तर्निहित ब्रह्म-स्वरूप को अभिव्यक्त करना ही जीवन का ध्येय है। कर्म, भक्ति, योग या ज्ञान के द्वारा, इनमें से किसी एक के द्वारा या एक से अधिक के द्वारा या सबके सम्मिलन के द्वारा यह ध्येय प्राप्त कर लो और मुक्त हो जाओ। यही धर्म का सर्वस्व है। मतमतान्तर, विधि या अनुष्ठान, ग्रन्थ, मन्दिर ये सब गौण हैं।

यदि ईश्वर है, तो हमें उसे देखना चाहिए; यदि आत्मा है, तो हमें उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति कर लेनी चाहिए; अन्यथा उन पर विश्वास न करना ही अच्छा है। ढोंगी बनने की अपेक्षा स्पष्ट रूप से नास्तिक बनना अच्छा है।

एक विचार ले लो। उसी एक विचार के अनुसार अपने जीवन को बनाओ; उसी को सोचो, उसी का स्वप्न देखो और उसी पर अवलम्बित रहो। अपने मस्तिष्क, मांसपेशियों, स्नायुओं और शरीर

के प्रत्येक भाग को उसी विचार से ओत-प्रोत होने दो और दूसरे सब विचारों को अपने से दूर रखो। यही सफलता का रास्ता है और यही वह मार्ग है, जिसने महान् धार्मिक पुरुषों का निर्माण किया है।

मैं अभी तक के सभी धर्मों को स्वीकार करता हूँ और उन सब की पूजा करता हूँ; मैं उनमें से प्रत्येक के साथ ईश्वर की उपासना करता हूँ; वे स्वयं चाहे किसी भी रूप में उपासना करते हों। मैं मुसलमानों की मसजिद में जाऊँगा, मैं ईसाइयों के गिरिजा में क्रास के सामने घुटने टेककर प्रार्थना करूँगा, मैं बौद्ध-मन्दिरों में जाकर बुद्ध और उनकी शिक्षा की शरण लूँगा। मैं जंगल में जाकर हिन्दुओं के साथ ध्यान करुँगा, जो हृदयस्थ ज्योतिस्वरूप परमात्मा को प्रत्यक्ष करने में लगे हुए हैं।

शिक्षा विविध जानकारियों का ढ़ेर नहीं है जो तुम्हारे मस्तिष्क में ठूँस दिया गया है और जो आत्मसात् हुए बिना वहाँ आजन्म पड़ा रहकर गड़बड़ मचाया करता है। हमें उन विचारों की अनुभूति कर लेने की आवश्यकता है, जो जीवन-निर्माण, 'मनुष्य'-निर्माण तथा चरित्र-निर्माण में सहायक हों। यदि आप केवल पाँच ही परखे हुए विचार आत्मसात् कर उनके अनुसार अपने जीवन और चरित्र का निर्माण कर लेते हैं, तो आप पूरे ग्रन्थालय को कण्ठस्थ करने वाले की अपेक्षा अधिक शिक्षित हैं।

अपने भाइयों का नेतृत्व करने का नहीं वरन् उनकी सेवा करने का प्रयत्न करो। नेता बनने की क्रूर उन्मत्तता ने बड़े-बड़े जहाजों को इस जीवन रूपी समुद्र में डुबो दिया है।

हमारे स्वाभाव में संगठन का सर्वथा अभाव है, पर इसे हमें अपने स्वभाव में लाना है। इसका महान् रहस्य है ईर्ष्या का अभाव। अपने भाइयों के मत से सहमत होने को सदैव तैयार रहो और हमेशा समझौता करने का प्रयत्न करो। यही है संघटन का पूरा रहस्य।

मैं तुम सबसे यही चाहता हूँ कि तुम आत्म-प्रतिष्ठा, दलबन्दी और ईर्ष्या को सदा के लिए छोड़ दो। तुम्हें पृथ्वी-माता की तरह सहनशील होना चाहिए। यदि तुम ये गुण प्राप्त कर सको, तो संसार तुम्हारे पैरों पर लोटेगा। ◻

ग्राहकों से निवेदन

विवेक शिखा के कृपालु पाठकों को कष्ट के साथ सूचित करना पड़ता है कि कागज के मूल्य और छपाई की दर में अत्यधिक वृद्धि हो जाने के कारण १९९२ ई० में 'विवेक शिखा' का वार्षिक सदस्यता शुल्क ३० रुपये और आजीवन सदस्यता शुल्क ५०० रु० होगा। हमें विश्वास है कि हमारे पाठक बन्धु इस आर्थिक भार को वहन करने में हमारा साथ देने की कृपा करेंगे।

निवेदक

व्यवस्थापक : विवेक शिखा

शरणागति

श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज
महाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवं मिशन

[श्रीरामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के महाध्यक्ष परम पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज के श्रीरामकृष्णदेव एवं श्रीश्री माँ सारदादेवी तथा उनके महत्तम जीवन में प्रस्फुटित 'शरणागति' के भाव के सम्बन्ध में विभिन्न अवसरों पर जो प्रवचन दिये थे उनका संकलन 'शरणागति' नामक पुस्तिका के रूप में उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता ने बंगला भाषा में प्रकाशित किया है।

भक्ति की चरम परिणति है शरणागति, शरणागति साधना भी है और साध्य भी। इस विषय का मर्मार्थ और यथार्थ तात्पर्य शरणागति नामक प्रवचन में व्यक्त किया गया है। श्रीरामकृष्ण के भक्त साधकों के लिए इस प्रवचन का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किया जा रहा है। रूपान्तरकार हैं—डॉ० केदारनाथ लाभ।—सं०]

श्रीरामकृष्ण आये थे हमलोगों के लिए। हम लोगों के कल्याण के लिए, अपने ऊपर सब कष्टों को उठाकर, उन्होंने अपने सारे जीवन में कष्ट-भोग किया था। उनके जीवन के वर्णन के प्रसंग में एक पाश्चात्य मनीषी कहते हैं, श्रीरामकृष्ण के द्वारा रोग-यंत्रणा का भोग-क्रूसविद्ध ईसा मसीह की पीड़ा से किसी अंश में कम नहीं है। उन्हें क्यों यह पीड़ा भोगनी पड़ी, इसके कारण की व्याख्या करते हुए श्रीरामकृष्ण ने स्वयं ही एक स्थल पर कहा है, अनुचित कर्म करने पर उसके फलस्वरूप कष्ट-भोग करना पड़ता है, किन्तु इस जीवन में इसने तो कोई अनुचित कार्य किया नहीं तो फिर यह कष्ट क्यों? जिसके सामने यह बात उन्होंने कही, वह उन्हें समझता नहीं था, इसी से स्वयं ही व्याख्या कर कहना पड़ा कि, कितने ही लोग कितनी ही तरह के अनुचित अधर्मपूर्ण कार्य कर जब यहाँ आते हैं तब उनका भोग इस देह में (मुझे) लेना पड़ता है। सबका भोग अपने शरीर में लेकर उन्होंने अशेष दुर्भोग का भोग किया। उन्हें अपना कोई प्रयोजन नहीं था, प्रयोजन एक ही था—जीव को दुःख-कष्ट से मुक्त करना, उनका उद्धार करना। जीवों के दुःख ने उन्हें इतना व्याकुल कर दिया था कि उन्होंने समाधि-सुख तक को तुच्छ कर लिया था। उन्होंने केवल यही चाहा था कि जीवन के अंतिम क्षण तक उनके द्वारा संसार का कुछ कल्याण हो। वे जानते थे कि उनका शरीर एक यंत्र है, जगन्माता उस यंत्र का व्यवहार करती हैं जगत्-कल्याण के लिए। उनका अपना कोई अहंकार नहीं था, 'मैं'—बोध नहीं था। वे कभी इस शरीर को भी 'मैं' नहीं कह पाते थे, 'यहाँ का'—इस प्रकार बोलते। यह लोगों को दिखाने के लिए नहीं, उनके मन में कभी यह भाव नहीं आता था कि मैं करता हूँ। जब वे कहते 'मैं यन्त्र हूँ तुम यन्त्री' तब वह उनके अन्तःकरण से निकलता था, मुँह की बात नहीं थी।

श्रीरामकृष्ण ने आकर हमलोगों को दिखा दिया कि कैसे भगवान् को पुकारना होगा। एक स्थल पर वे कहते हैं, "तुम लोग क्या प्रार्थना करते हो! भगवान के लिए व्याकुल नहीं होने पर क्या कुछ होता है? ऐसा करके उनके लिए रोना होगा"—कह कर धरती पर लेटकर वे लोट-पोट

करने लगे। भगवान के लिए किस प्रकार व्याकुल हुआ जाता है यह वे अपने जीवन में दिखा गये। इस व्याकुलता से ही उन्हें भगवान का प्रथम अनुभव हुआ। निश्चय ही बचपन से हो उनके जीवन में उनेक प्रकार की अलौकिक घटनाएँ घटी हैं, अनेक अनुभव उन्होंने प्राप्त किये हैं। इन सब को छोड़कर उनके मानव रूप पर यदि विचार कर देखें तो हम देखेंगे कि दक्षिणेश्वर में माँ के लिए वे व्याकुल होकर रोते हैं, इस तरह छटपटाते हुए रोते हैं कि लोग जड़वत हो जाते हैं। वे सोचते हैं कि लगता है इस व्यक्ति को शूल रोग की वेदना हो रही है। इस यंत्रणा का भोग उन्होंने क्यों किया ? नहीं, हृदय में कैसी दारुण वेदना होने पर भगवान को पाया जा सकता है, यह दिखाने के लिए। फिर, यह व्याकुलता ही भगवान्-लाभ का एक मात्र उपाय है, इसे दिखाने की भी आवश्यकता थी। इसके पहले उन्होंने विधिपूर्वक अनुष्ठान कर साधना नहीं की। केवल अन्तर की प्रेरणा से जब जो मन में होता है वही करते हैं। उनका कोई निर्देशक नहीं था। किसी शास्त्र का अनुसरण भी उन्होंने नहीं किया। मात्र अन्तर की व्याकुलता से ही दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में उन्हें जो ईश्वर-दर्शन हुआ था उसका वर्णन हमलोग 'श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग' में पाते हैं।

श्रीरामकृष्ण यह दिखा गये कि भगवान की प्राप्ति के लिए विशेष शास्त्रज्ञान की विधिबद्ध साधना की एकान्त आवश्यकता नहीं होती, आवश्यक है केवल ईश्वर के लिए व्याकुल होना। बच्चा माँ की गोद से अलग हो जाने पर जैसे असहाय होकर रोता है, ये साधक-शिशु भी उसी प्रकार माँ के लिए रोते तथा वह रुदन ऐसा होता कि जगन्माता दूर नहीं रह पातीं।

वे जगन्माता हैं अथवा कौन हैं, यह हमलोग जान नहीं पाते। जो एक रूप में भक्त हैं वे ही एक अन्य रूप में भगवान् हैं -यह बात श्रीरामकृष्ण ने स्वयं भी कही है। भगवान् मनुष्य के भीतर आएँगे, मनुष्य की भाँति ही आचरण करेंगे, भगवान् को पाने के लिए साधक के जीवन में जैसी व्याकुलता होती है वैसी दिखाएँगे फिर वे स्वयं ही भगवान् हैं—यह विश्वास करना कठिन है। इसी से श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, नरलीला में विश्वास होना बड़ा कठिन है। साढ़े तीन हाथ के मनुष्य के भीतर भगवान् विराजित होकर हँसते हैं, रोते हैं, खेलते हैं, खाते हैं, रोग यंत्रणा का भोग करते हैं—जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि सब कुछ उनकी देह में होता है तब भी उन्हें भगवान् कैसे कहेंगे ? इसे मनुष्य सोच नहीं पाता। भागवत में है कि कंस के कारागार में देवकी-वासुदेव को सन्तान के रूप में दिखाई देने के समय श्रीकृष्ण ने उन्हें पूर्ण भगवान् के रूप में दर्शन दिया—'

'तमद्भूतं बालकम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम्।
श्रीवत्स लक्ष्मंगलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्।
(१०.३,९)

—वे दोनों विस्मय से उत्फुल्ल नयनों से गदापद्म-धारी श्रीवत्सचिह्न से युक्त गले में कौस्तुभमणि, पीतवसन, नवीन नीरदवर्ण देखकर आनन्द से अधीर हो गये। पुत्र को परमपुरुष जानकर प्रणत होकर जोड़ कर उनकी वन्दना की। भगवान् ने उत्तर में कहा, तुम लोगों ने पूर्व जीवन में अत्यन्त कठोर तपस्या की थी। तपस्या से संतुष्ट होकर इसी मूर्ति में आविर्भूत होकर मैंने वरदान माँगने को कहा। तुम लोगों ने मेरे समान पुत्र पाने की प्रार्थना की थी। मैंने तुम दोनों को वह वरदान दिया था। किन्तु—

'अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्।
अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः॥"
(१०-३-४१)

—हे सती, इस संसार में शील, उदारता और गुण में अपने समान किसी अन्य व्यक्ति को नहीं देखकर मैं स्वयं ही तुमलोगों का पुत्र हुआ था। मेरा वचन कभी मिथ्या नहीं होता इसी से मुझे तीन बार तुमलोगों के पुत्र के रूप में आना हुआ है।

श्रीरामकृष्ण ने एक उपमा दी है। नारद भगवान के यहाँ से आये हैं। एक भक्त ने जिज्ञासा की— वैकुण्ठ में वे (श्रीभगवान्) क्या कर रहे हैं?' नारद कहते हैं—'सुई के छेद से हाथी को निकाल रहे हैं।' सुनकर एक व्यक्ति ने कहा—'धत्! आप वहाँ नहीं गये हैं। यह क्या कभी संभव हो सकता है?' एक दूसरे व्यक्ति ने कहा,—'भगवान् के लिए सब कुछ सम्भव है'। उनके लिए सब कुछ सम्भव होने के कारण उन्होंने असहाय शिशु बनकर जन्म ग्रहण किया। कंस से बचाने के लिए वसुदेव यमुना को पारकर उन्हें गोकुल में रख आये। देवकी कहती हैं—तुम अपना यह रूप-संवरण कर लो क्योंकि कंस प्रतीक्षा कर रहा है। देखते ही तुम्हें मार डालेगा। भगवान् की माया से माँ उनके प्रकृत स्वरूप को भूल गयी हैं। एक ओर वे भगवान् कहती हैं, और दूसरी ओर कहती हैं कि कंस तुम्हारी अभी ही हत्या करेगा।

माया के भीतर से भगवान् जब भक्त पर कृपा करते हैं तब सभी असम्भव उनके लिएसम्भव प्रतीत होने लगता है। जो हमलोगों के लिए अकल्पनीय है वह भगवान् के लिए स्वाभाविक है। इस प्रकार जो भगवान् हैं, हमलोग सोचते हैं कि उन्हें साधना के द्वारा प्राप्त कर लेंगे, यह कैसी अवास्तविक कल्पना है इसे भागवत में सुन्दर रूप से दिखाया गया है।

श्रीकृष्ण के नटखटपने से पड़ोस की गोपियाँ क्षुब्ध हो गयीं। उन्होंने यशोदा के निकट आकर नालिश की। उनलोगों के अनेक प्रकार के अभियोगों को सुनकर यशोदा ने निश्चय किया कि श्रीकृष्ण को दण्ड देंगी, उन्हें बाँधकर रखेंगी। डोर से बाँधने को जाने पर उन्होंने देखा कि डोर दो अंगुल छोटी हो गयी है। ग्वालों के घर में रस्से की कमी नहीं। तब दूसरे रस्से को जोड़ा गया। फिर भी रस्सा दो अंगुल छोटा हो गया। यह जो असम्भव है, वह माँ के मन में आता नहीं। बेटे को बाँधने जाकर वे अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। यह देखकर बेटे ने सोचा, अब और नहीं, उन्होंने अपने को बँधवा लिया। तात्पर्य यह है कि हम चाहे साधना कितनी भी क्यों न करें, भगवान् को पाने या वश में करने के लिए वह नितान्त नगण्य है। अनन्त काल तक साधना करने पर भी उस अनन्त की निकटता हमलोग कभी प्राप्त नहीं कर सकेंगे। तब फिर हम साधना करेंगे क्यों?

इसके उत्तर में स्वामी तुरीयानन्द कहते हैं, साधना का अहंकार जिससे चूर्ण हो इसके लिए ही साधन किया जाता है। हमलोग सोचते हैं कि खूब जप-ध्यान करेंगे। इतने से नहीं होता है तो एक लाख जप और बढ़ा देंगे, कई घण्टे ध्यान करेंगे, किन्तु यह सब करते करते जब हम देखते हैं कि सारी चेष्टाएँ ही व्यर्थ हो गयी हैं तब साधना का अहंकार दूर होता है। अहंकार जब दूर होता है तभी उस असाध्य वस्तु को हमलोगों के हाथ में आने का प्रकृत समय उपस्थित होता है। वे (भगवान्) स्वयं नहीं पकड़ा दें तो उन्हें पकड़ा नहीं जा सकता, यह शास्त्र भी कहते हैं। ऐसा होने पर क्या यह सब करने की जरुरत नहीं है? हरि महाराज (श्रीरामकृष्ण के अन्यतम शिष्य स्वामी तुरीयानन्द) यही बात कहते हैं, उड़ते-उड़ते जब पक्षी के डैने दुःखने लगते हैं, और उड़ पाना संभव नहीं होता तब वह एक स्थान पर आकर बैठ जाता है। इसी तरह साधना करते करते हमलोग जब हैरान हो जाते हैं, और अधिक साधना कर नहीं पाते, तब भगवान् के निकट हम आत्म-समर्पण करते हैं। वह शुभ क्षण जिसके जीवन में जब आयगा तभी उसका जीवन सार्थकता से पूर्ण होगा।

एक बार हरि महाराज कुछ दिनों तक श्रीरामकृष्ण के पास नहीं आते थे। श्रीरामकृष्ण तो थे अहेतुक कृपासिन्धु। एक व्यक्ति से उन्होंने कहा, हरि नहीं आता है, क्या हुआ? उसने कहा, वेदान्त के विचार, तपश्चर्या इन्हीं सब को लेकर

वे अपना सारा दिन व्यतीत करते हैं, आने का समय कहाँ है? श्रीरामकृष्ण ने उस समय कुछ नहीं कहा। इसके बाद बागबाजार में बलराम बसु के घर पर आकर हरि को खबर दी। वे बगल में ही रहते थे। हरि महाराज ने आकर सीढ़ी पर चढ़ते-चढ़ते सुना कि श्रीरामकृष्ण गाना गा रहे हैं—यात्रा का गाना। लव कुश ने राम के अश्वमेघ के घोड़े को पकड़ रखा है, और राम के सैन्य सामन्तों के साथ उनका युद्ध शुरू हो गया है। लव कुश वीरतापूर्वक युद्ध कर हनुमान को बाँधकर माँ के पास ले गये हैं। माँ से उन्होंने कहा, देखो, कितने बड़े हनुमान को पकड़ लाया हूँ। तब हनुमान गाना गाते हुए उत्तर देते हैं—

'ओ रे कुशीलव, करिस की गौरव
धरा ना दिले कि पारिस धरते'—

('ओ रे कुश लव, किस घमंड में तुम हो इतना इठलाते नहीं पकड़ने देता मैं तो, क्या तुम मुझे पकड़ पाते ?'—)

श्रीरामकृष्ण बार-बार यह गाना गाते हैं और उनकी आँखों से अजस्र जल-धारा बह रही है। छाती पर से प्रवाहित होती हुई जल धारा से नीचे बिछी दरी भी थोड़ी भींग गयी। उन्होंने समझ लिया, उनको ही शिक्षा देने के लिए श्रीरामकृष्ण यह गाना गा रहे हैं।

स्वयं भगवान् श्रीरामकृष्ण के रूप में विराजित हैं, उनके निकट नहीं आकर हरि महाराज साधना करके भगवान् को प्राप्त करेंगे, वेदान्त के सत्य का जीवन में साक्षात्कार करेंगे। (किन्तु श्रीरामकृष्ण) ने एक कथा के द्वारा ही समझा दिया कि कठोर तपश्चर्या से ईश्वर को नहीं पाया जा सकता है: यदि स्वेच्छा से ही भगवान किसी को प्राप्त करा दें तभी वह उन्हें प्राप्त कर सकता है।

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः— कठोपनिषद् १-२-२३

—जिसका वे वरण करते है वही उन्हें प्राप्त करता है। भगवान् किसे वरण करेंगे यह वे ही जानते हैं। किसका साध्य है कि वह उनके योग्य होकर उनके निकट जायगा। इसी से वे दया करके जिसका वरण करते हैं, वही उन्हें प्राप्त करता है।

इस वस्तुलाभ की असमर्थता समझने के लिए ही साधन-भजन है। इसी से हरि महाराज का का कथन है, साधन का अहंकार दूर करने के लिए साधना की जाती है। श्रीरामकृष्ण की सन्तानों में से प्रत्येक ने ही कठोर तपस्या की थी। उनमें हरि महाराज की भाँति इतने दीर्घ काल तक कठोर साधना किसी ने नहीं की। वे ही हरि महाराज कहते हैं कि, श्रीरामकृष्ण ने मुझे शिक्षा दी कि 'नहीं पकड़ने देता मैं तो, क्या तुम मुझे पकड़ पाते।' यह बात श्रीरामकृष्ण ने कई रूपों में कही है, वचनामृत के पृष्ठ-पृष्ठ में उसे देखा जा सकता है। सारे अभिमानों का परित्याग कर, भगवान् का दासानुदास हो यदि कोई उनके चरणों की शरण में जाय तभी वे उस पर कृपा करेंगे या कर सकेंगे। वचनामृत में अनेक स्थलों पर श्रीरामकृष्ण ने कहा है, नाहं नाहं, तूहूँ तूहूँ। मैं नहीं मैं नहीं, तूही तूही : हमलोगों के 'मैं' ने ही हर समय इस क्षुद्र सीमा में हमलोगों को बाँध रखा है। अमृत का सागर सामने रहता है, तब भी हमलोग प्यास से कातर रहते हैं। अहंकार यदि दूर हो जाय—वह भी उनकी कृपा से ही होगा—तभी उनकी कृपा की अनुभूति होगी। इसी से श्रीरामकृष्ण बार-बार कहते हैं, शरणागत, शरणागत। शरणागत नहीं होने पर यह दुर्जय अभिमान, यह दुरन्त 'मैं' नहीं जायगा।

श्रीरामकृष्ण मास्टर महाशय से पूछते हैं, 'अच्छा, क्या मेरे भीतर अहं है ?' मास्टर महाशय समझ नहीं पाते हैं कि क्या उत्तर देंगे। कहते हैं, 'जी, आपने लोक कल्याण के लिए थोड़ा अहं रख लिया है।' श्रीरामकृष्ण तुरन्त सुधार कर देते हैं, 'नहीं, मैंने नहीं रखा है, उन्होंने रखा है।' यह जो थोड़ा अहं है वह भी 'मैंने नहीं रखा है,

उन्होंने रखा है।' एक स्थल पर कहते हैं, इस खोल के भीतर उस माँ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। माँ अर्थात् इस खोल के भीतर उस माँ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। माँ अर्थात् जगन्माता, जो विश्वब्रह्माण्ड को चला रही हैं।

श्रीरामकृष्ण के कथनानुसार क्या यह खोल नहीं, उनका भीतर का जो स्वरूप है वही सत्य है? खोल तो आवरण है। जो असीम हैं उन्होंने आवरण के द्वारा अपने को आवृत कर रखा है जिससे साधारण लोग उनकी निकटता पा सकें उनका अपने असीमत्व को लेकर आविर्भूत होने पर हमलोग विभ्रान्त हो जाएँगे। अर्जुन को भगवान् ने अपना विश्वरूप दिखलाया। अर्जुन के समान वीर हृदय व्यक्ति भी उस रूप को देख कर भय से ग्रस्त हो गये। कहा, मैं सहन नहीं कर पाता हूँ, आप अपने इस रूप का संवरण कीजिए। उस रूप के वर्णन में कहा गया है—

'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः'॥
(गीता, ११-१२)

यदि आकाश में एक साथ हजार हजार सूर्य की प्रभा समुदित हो तो वह दीप्ति विश्वरूप की प्रभा के समान हो कि न हो। वे अतुलनीय हैं। इसी से जगत् में किसी वस्तु से उनकी उपमा नहीं दी जा सकती। मनुष्य को समझाने के लिए कहते हैं, असंख्य सूर्यों के एक साथ उदित होने से उनकी जैसी प्रखर दीप्ति होती है, भगवान् की प्रभा वैसी ही है उसे देखने की सामर्थ्य हमलोगों को है क्या?

हमलोगों का यह क्षुद्र 'मैं' उस अनन्त की तुलना में कितना बड़ा है? उपनिषद् में कहा गया है—**'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः'** (श्वेताश्वतरोपनिषद् ५-६)—एक बाल के अग्रभाग के सौवें हिस्से को लेकर फिर उसका सौ भाग करने पर उसके भी एक हिस्से के बराबर जीव का परिमाण है। वह जीव फिर जब भगवान् के साथ मिलता है तब वह अनन्त हो जाता है वह अनन्त हो जाता है, उसका स्वरूप अनन्त हो जाता है। जो अनन्त स्वरूप है उसे कैसे इतना क्षुद्र किया गया? 'मैं' देकर। जो मैं अपने को देहधारी मानता है, भक्त, ज्ञानी, योगी, साधु असाधु मानता है, वह मैं क्या इतना बड़ा है? जो अनन्त हैं वे इतना छोटा 'मैं' होकर सबके बीच लीला करते हैं। आवरण देकर उन्होंने अपने को सीमित कर लिया है। जीव रूप में किया है और ईश्वररूप में भी किया है। ईश्वर का अर्थ है जगत का नियन्ता, जगत् का अनुभव करने पर ही तो हमलोग समझ सकेंगे कि वे (भगवान्) उसके भी पार हैं। उसके भी पार इसलिए हैं कि हमलोगों का मन उनकी धारणा कर नहीं पाता! इसीलिए उनको (ईश्वर को) समझने के लिए उनका स्वरूप हुए विना समझा नहीं जा सकता।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं, समुद्र को क्या छटाँक भर के पात्र में ग्रहण किया जा सकता है? हमलोग लघु जीवत्व रूपी आधार में भगवान की धारणा करने की चेष्टा करते हैं—इससे अधिक पागलपन और क्या हो सकता है? सारी चेष्टाओं को विफल कर देने पर अनन्त जैसे हैं वैसे ही रहते है, हमलोग केवल अपनी क्षुद्रता समझ पाते हैं? तब हमलोग अपनी क्षुद्रता को असहाय शिशु की भाँति भगवान् के चरणों में निवेदन कर देते हैं—वे जो हो सो करें। इसका नाम है शरणागति।

जब मैं अपने ऊपर भरोसा नहीं रखकर सम्पूर्ण रूप से भगवान् के पाद-पद्मों पर अपने को सौंप देता हूँ, उसी का नाम है शरणागति। वहाँ लेश मात्र अभिमान के रहने पर नहीं होगा। पूर्णतः अभिमान शून्य होकर उनके चरणों पर यदि अपने को निवेदित कर सकूँ तो ऐसा होने पर विन्दु ही सिन्धु हो जायगा।

उपनिषद् में इस कथा का वर्णन है—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥
(कठोपनिषद्, २-१-१५)

—हे गौतम, निर्मल जल जिस प्रकार निर्मल जल राशि में जाकर गिरने से एकरसता प्राप्त करता है, इसके बाद वह क्या होता है? उस विन्दु का क्या नाश हो जाता है? नहीं, वह विन्दु सिन्धु में परिणत हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि उसी प्रकार मननशील और एकात्मदर्शी हो जाता है। उसको बिन्दुत्व ने ही उसे समुद्र से अलग कर रखा था। दोनों का तत्व एक ही है, दोनों के भीतर ही वे हैं। किन्तु बीच में पार्थक्य रखा है, इस खोल से अपने को ढँक रखा है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, कोई तकिया लम्बा, कोई छोटा, विभिन्न आकारों का होता है किन्तु भीतर एक ही रुई होती है। जिन्हें हमलोग जीव कहते हैं, क्षुद्र कहते हैं, रोग, शोक, जरा, मृत्यु के अधीन कहते हैं वह व्यक्तित्व क्या है? वे भी तो श्रीभगवान् के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। गीता में भगवान् कहते हैं—

'न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम्।
(१०-३९)

—मेरे अतिरिक्त इस संसार में स्थावर जंगम जैसी कोई वस्तु ही नहीं हैं। भीतर बाहर सर्वत्र वे ही ओत-प्रोत होकर रह रहे हैं। भगवान् की असीमता का वर्णन करते हुए भागवत में कहा गया है—

अनावृतत्वाद्बहिरन्तरं न ते'. (१०-३-१७)

—तुम आवरण रहित हो अतएव तुम्हारा बाहर या भीतर नहीं है। जो सर्वव्याप्त हैं उनका फिर भीतर-बाहर क्या होगा? भक्तगण आनन्द की मुद्रा में कहते हैं, सर्वशक्तिमान होने पर भी भगवान् भक्त को अपने राज्य से निकाल नहीं पाते हैं। कहाँ निकालेंगे? जहाँ कहीं निकालेंगे वहीं वे हैं। यह बोध होने पर हमलोगों का क्षुद्रत्व या आवरण और नहीं रहता। तब छोटा जीव अनन्त हो जाता है। 'तदानन्ताय कल्पते' वस्तुतः वह अनन्त ही था किन्तु अपनी लीला के लिए उन्होंने उसके ऊपर एक आवरण रख दिया था, एक मुखौटा पहना दिया था। जैसे भागवत में वर्णन है—

ब्रह्मा ने श्रीकृष्ण की परीक्षा लेने के लिए गो चराते समय उनके बछड़ों का हरण कर लिया। ग्वाल-बालों ने देखा कि बछड़े नहीं हैं। श्रीकृष्ण ने कहा, मैं ढूँढने जाता हूँ। ग्वालबालों ने कहा, नहीं, तुम बैठो, हमलोग ढूँढने जाते हैं। उन्हें (श्रीकृष्ण को) निरस्तकर वे ढूँढने गये। जाकर वे सब भी नहीं लौटे। भगवान् चिन्तित हो गये। बछड़े गये, उन्हें ढूँढने जाकर ग्वालबाल भी गये। श्रीकृष्ण उद्विग्न हुए, कहाँ गये? अपनी माया को अंगीकार कर स्वयं मोहाच्छन्न हो गये हैं। इसके बाद दिव्यदृष्टि से देखकर मामला क्या है इसे समझ लिया। इसके उपरान्त स्वयं ही बछड़े और ग्वालबाल हो गये। खेल जैसा चल रहा था वैसा ही चला। इसके बाद ब्रह्मा का एक दिन अर्थात नरलोक का एक वर्ष बीत गया है। एक दिन ब्रह्मा ने आकर देखा कि खेल जिस प्रकार चल रहा था वैसा ही चल रहा रहा है। वे विस्मत होकर सोच रहे हैं, मैंने उनलोगों को नींद देकर सुला रखा था। फिर ये लोग कौन हैं? ये लोग सत्य हैं, अथवा मैंने जिन्हें सुला दिया था वे लोग सत्य हैं? तब हठात् ब्रह्मा की आँख खुल गयी। उन्होंने देखा कि जो यहाँ बैठे हैं, उनके जो सहचर ग्वाल-बाल है वे भी वही हैं, बछड़े भी वही हैं। देखकर ब्रह्मा भय से आकुल हो गये। वर्णन है कि वे हंस पर चढ़कर गये थे, उसके ऊपर से गिर गये। गिरकर साष्टांग होकर भगवान् की स्तुति करते हैं।

भगवान् की ऐसी ही महिमा है जिसका वर्णन करते हुए भागवत ने ब्रह्मा की यह दुर्दशा दिखायी। अतः हम लोगों की और भी कितनी दुर्दशा होती है जब हम लोग भगवान् का परिमाप करने जाते हैं। अतएव, एक मात्र पथ है भगवान के निकट आत्मसमर्पण, जिसे कहते हैं—शरणागति।

वे हैं एक महान् स्तोत्र

मूल रचना : प्रो० शंकरी प्रसाद बसु
अनुवाद : प्रो० जी० एन० राय चौधरी
इलाहाबाद

(प्रस्तुत रचना विख्यात बंगला लेखक प्रो० शंकरी प्रसाद बसु द्वारा लिखित काव्य पुस्तक "विवेकानन्द कवि चिरन्तन" की एक कविता का हिन्दी अनुवाद है। इस रचना में प्रो० बसु ने स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में भगिनी निवेदिता के कुछ भाव-भरे विचारों को कविताबद्ध किया है। "रेमिनिसेन्सेज ऑफ विवेकानन्द" नामक अंग्रेजी पुस्तक में सम्मिलित भगिनी निवेदिता के लेख के एक अंश में ये विचार व्यक्त किये गये हैं।)

—अनुवादक

स्वामीजी आयेंगे व्याख्यान देने को,
प्रतीक्षा कर रही हूँ मैं !
अकस्मात् यह कैसे स्पन्दन और सिरहन ने
मुझे घेर डाला है,
लगता है जीवन की कठिनतम परीक्षा की
घड़ी आ उपस्थित है।

इसी दशा में मैं बैठी रही।
इसके बाद कितना क्या आया,
गया और घटित हुआ !
मैं कहाँ जा खड़ी हूँ—कहाँ
है मेरा पुराना जीवन ?
लगता है मैंने उसे जीर्ण वस्त्रों
की तरह फेंक दिया है
ताकि नतमस्तक हो सकूँ
उनके श्रीचरणों में।
ऐसा करना क्या गलत होगा
मेरे लिए—मरीचिका को खोजने के समान
या होगा यह सही मार्ग का चयन,
परम उद्धार का क्षण ?
कुछ ही क्षण बाकी हैं,
इसके बाद ही तो होगी अमोघ घोषणा।

आकर खड़े हैं स्वामीजी, नीरवता छायी है,
लगता है जैसे वे एक महान स्तोत्र हैं,
सुविशाल आराधना की प्रतिमूर्ति हैं।

अन्त में वाणी उनकी मुखरित हो उठती है :
'सभी वस्तुओं की परिणति होती है
एकत्व में।
जिसे हम देखते हैं विविध रूपों में—
कांचन, प्रेम, दुःख, पृथ्वी—वह
सब एक हैं—अभिव्यक्ति की
भिन्नता से नाम की भिन्नता है।
आज का जड़ भविष्य का चेतन है,
आज का कीट भविष्य का ईश्वर है।
जिन सब विभेदों को स्वीकार करते हैं हम
खुशी के साथ,
वे तो चरम और परम अस्तित्व के हैं
अंशमात्र !
उस अस्तित्व का नाम है मुक्ति।
हमारा सारा संघर्ष है मुक्ति के हेतु।
हम सुख भी नहीं चाहते,
दुःख भी नहीं चाहते,
हम चाहते हैं केवल मुक्ति।
मनुष्य की जलती हुई,
अशान्त, अतृप्त तृष्णा—
और, कुछ और, कुछ और
की कामना—द्योतक है
उसके असीमत्व की।

असीम मानव पा सकता है
तृप्ति केवल असीम कामना में
और असीम उपलब्धि में ।'

विलक्षण ये शब्द उनके
सागर की गरजती लहरों की तरह
ध्वनित हो कानों से टकराने लगे ।
ऐसा लगा जैसे हम
जा पहुँचे हों अनन्त में,
जैसे साधारण मनुष्य हम
बन गये हों अद्भुत एक ऐसा शिशु
जो बढ़ाये हुये है हाथ
आकाश के सूरज, चाँद, तारों
की ओर, उन्हें बच्चों का खिलौना
समझते हुए ।

असाधारण कण्ठस्वर बजता रहा :
'कौन कर सकता है असीम की सहायता ?
अन्धकार के बीच जो हाथ
तुम्हारे पास पहुँचा है,
वह हाथ है तुम्हारा ही ।'

इसके बाद मुखरित हुई
तीर-विद्ध हृदय-जैसी गहरी करुण व्यथा,
जिसे व्यक्त करने में असमर्थ हैं
विश्व के श्रेष्ठ रचनाकार :
'अनन्त के स्वप्नदर्शी हैं हम,
हाय, हम सीमा के स्वप्न देखते हैं ।'

कितनी बड़ी गलती करते हैं वे
जो यह कहते हैं—
'कण्ठस्वर में क्या रखा है,
भाव ही सब कुछ है :'
वे जानते ही नहीं
कि स्वरों के उत्थान-पतन से
उपजता है शब्दों की कविता में संगीत,
जीवन की हाट के कोलाहल में
उसी से उपजती है छन्दों की थिरकन ।
जैसे गिरजाघर के अर्ध-प्रकाशित
पार्श्वभागों में ध्वनित होता है
कोई एक रहस्यमय प्रार्थना-गीत,
वैसा ही स्वर बज उठा है
इस परम पवित्र प्रहर में ।

अन्त में सब कुछ जैसे उतर आया,
तनिक रुककर घुल गया एक चेतना में :
'यदि अनन्त एकत्व एक पल के लिए भी
बाधित हो जाय,
यदि एक परमाणु को भी
चूर-चूर कर दे
उसका स्थान-च्युत होना,
तो फिर रहूँगी नहीं मैं
अब और यहाँ,
तुम लोगों के पास,
तुम लोगों के बीच ।
हरि ओ३म् तत्सत् ।'

और मुझे मिला अब
वह जीवन जो अनन्त को
पकड़े हुए है हमारे निमित्त ।
रही नहीं बुद्धि की अस्थिर ज्वाला अब
कम्पन और सिहरन भी नहीं
रही अभिनव के हेतु ।

स्वामीजी अब भी खड़े हैं,
मुट्ठी में उनकी है मेरा यह जीवन;
डाली उन्होंने एक दृष्टि मुझ पर,
देखा मैंने उस दृष्टि में लिखा हुआ—
'चाहिए पूर्ण विश्वास, आदर्श का स्थायी बोध,
भावावेग नहीं ।'

—निवेदिता

शक्ति के सन्देशवाहक स्वामी विवेकानन्द

स्वामी निखिलात्मानन्द
अध्यक्ष, राम कृष्णमठ, इलाहाबाद

स्वामी विवेकानन्द शक्ति के जीवन्त प्रतीक थे। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति उनमें कूटकूट कर भरी हुई थी। बचपन में छः वर्ष की आयु में छज्जे से नीचे गिर जाने के कारण उनका सिर पत्थर से टकरा गया था जिसके फलस्वरूप उनके मस्तक में गहरी चोट आयी थी तथा काफी रक्त बह गया था। इस दुर्घटना से उनकी दाँयीं आँख के ऊपर एक स्थायी निशान बन गया था। परवर्तीकाल में श्रीरामकृष्ण देव ने इस घटना को सुनने के बाद कहा था "एक तरह से यह अच्छा ही हुआ। यदि इस प्रकार उसके सिर से रक्त निकल जाने के कारण उसकी शक्ति का क्षय न हुआ होता तो वह अपनी अदम्य शक्ति से जगत को उलट पलट कर डालता।" इस शक्ति के क्षय होने के बावजूद भी तो स्वामीजी ने सारे संसार में जो वैचारिक क्रांति का सूत्रपात किया है, उससे उनकी अदम्य शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है।

इस तरह स्वामीजी शक्ति के जीवन्त विग्रह के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। उन्होंने दूरदृष्टि से देखा था कि भारत की हजारों वर्षों की गुलामी के मूल में लोगों की शारीरिक और मानसिक दुर्बलता ही रही थी। इसके फलस्वरूप ईर्ष्या, द्वेष, कायरता और कपटता ने मानो जातीय गुणों का रूप धारण कर लिया था। कर्महीनता, पलायनवादिता, कुसंस्कार तथा कुरीतियों ने धर्म का रूप ले लिया था। इसलिए स्वामीजी इस सोये हुए राष्ट्र को जगाने के लिए लोगों को शक्ति का मूल मंत्र देते हुए कहते हैं, "क्या तुम जानते हो कि तुम्हारे भीतर अभी भी कितना तेज, कितनी शक्ति छिपी हुई है? क्या कोई वैज्ञानिक भी उन्हें जान सका है? मनुष्य का जन्म हुए लाखों वर्ष हो गये पर अभी भी उसकी असीम शक्ति का केवल एक अत्यन्त क्षुद्र भाग ही अभिव्यक्त हुआ है। इसलिए तुम्हें यह नहीं कहना चाहिए कि तुम शक्तिहीन हो। जो शक्ति तुममें है उसके बहुत ही कम भाग को तुम जानते हो। तुम्हारे पीछे अनन्त शक्ति और शान्ति का सागर है।" स्वामीजी ने देखा था कि शारीरिक और मानसिक दुर्बलता तथा पाप की भावना ने सारे देश को तमोगुण से आच्छन्न कर दिया है। मनुष्यों ने अपने दैवी स्वरूप को भुलाकर अपने को अत्यन्त क्षुद्र और पौरुषविहीन समझ रखा है। उनकी इस दुर्बलता को दूर करने के लिए स्वामीजी उपनिषदों की अमर वाणी का उद्घोष करते हुए कहते हैं—"तुम प्रभु की सन्तान अमर आनन्द के हिस्सेदार, पवित्र और पूर्ण हो। ऐ पृथ्वी निवासी, ईश्वर स्वरूप भाइयों! तुम भला पापी? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, यह कथन मानव स्वरूप पर एक लांछन है। ऐ सिंहो, जाओ और अपने तई भेड़-बकरी होने का भ्रम दूर कर दो। तुम अमर आत्मा, शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव, शाश्वत और मंगलमय हो। तुम जड़ नहीं हो, तुम शरीर नहीं हो, जड़ तुम्हारा गुलाम है, तुम उसके गुलाम नहीं।"

धर्म के यथार्थ स्वरूप के रूप में वे उपनिषदों के सदस्यों को जो आत्मा तथा उसकी सर्व शक्तिमत्ता, सर्वज्ञता तथा सर्व व्यापकता का उद्घोष करते हैं, जन साधारण के बीच प्रचारित करने का संकल्प लेते हैं तथा उन्हें गिरि कन्दराओं में अव-

स्थित कतिपय संन्यासियों के हाथ से निकालकर जनसाधारण की सम्पत्ति बना देना चाहते हैं। उन्हें पूर्ण विश्वास है कि इसी के माध्यम से यह सदियों से सोया हुआ देश जगेगा तथा लोगों में आत्म-विश्वास की उत्पत्ति होगी। इसलिए वे कहते हैं, "उपनिषदों में यदि कोई ऐसा शब्द है, जो वज्र-वेग से अज्ञान राशि के ऊपर पतित होता है, उसे बिल्कुल उड़ा देता है, तो वह है 'अभी':—निर्भयता। ससार को यदि किसी एक धर्म की शिक्षा देनी चाहिए तो वह है निर्भीकता'। यह सत्य है कि इस ऐहिक जगत में अथवा आध्यात्मिक जगत में भय ही पतन और पाप का कारण है। भय से ही दुःख होता है, यही मृत्यु का कारण है और इसी के कारण बुराई और पाप होते हैं।"

और इस भय से मुक्ति पाने के लिए स्वामीजी आत्म विश्वास की उपलब्धि पर जोर देते हुए कहते हैं, "विश्वास, विश्वास, अपने आप में विश्वास,- ईश्वर में विश्वास—यही महानता का रहस्य है। यदि तुम पुरानों के तैंतीस करोड़ देवताओं और विदेशियों द्वारा बतलाये हुए सब देवताओं में भी विश्वास करते हो, पर यदि अपने आप में विश्वास नहीं करते, तो तुम्हारी मुक्ति नहीं हो सकती। अपने आप में विश्वास करो, उस पर स्थिर रहो और शक्तिशाली बनो। नास्तिकता को एक नवीन परिभाषा प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं, "जो अपने आप में विश्वास नहीं करता वह नास्तिक है। प्राचीन धर्मों ने कहा है, वह नास्तिक है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता। नया धर्म कहता है, वह नास्तिक है जो अपने आप में विश्वास नहीं करता।"

इस आत्म विश्वास को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है शारीरिक बल। शारीरिक दुर्बलता के फलस्वरूप ही हम आत्म विश्वास खो बैठते हैं। इसीलिए स्वामीजी ने नवयुवकों को शारीरिक रूप से शक्तिशाली होने का उपदेश देते हुए कहा था, "सबसे पहले हमारे तरुणों को मजबूत बनना चाहिए। धर्म इसके बाद की वस्तु है। मेरे तरुण मित्रों! शक्तिशाली बनो, मेरी तुम्हें यही सलाह है। तुम गीता के अध्ययन की अपेक्षा फुटबाल के द्वारा ही स्वर्ग के अधिक समीप पहुँच सकोगे। ये कुछ कड़े शब्द है, पर मैं उन्हें कहना चाहता हूँ, क्योंकि मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि काँटा कहाँ चुभता है। मुझे इसका कुछ अनुभव है। तुम्हारे स्नायु और मांसपेशियाँ अधिक मजबूत होने पर तुम गीता अधिक अच्छी तरह समझ सकोगे। तुम अपने शरीर में शक्तिशाली रक्त प्रवाहित होने पर श्री कृष्ण के तेजस्वी गुणों और उसकी अपार शक्ति को अधिक समझ सकोगे। जब तुम्हारा शरीर मजबूती से तुम्हारे पैरों पर खड़ा रहेगा और तुम अपने को 'मनुष्य' अनुभव करोगे तब तुम उपनिषद और आत्मा की महानता को अच्छी तरह समझ सकोगे।"

शारीरिक शक्ति के अभाव में ही हमें सब प्रकार के दुःख कष्ट भोगने पड़ते हैं। स्वामीजी कहते हैं, "दु:ख भोग का एकमात्र कारण है दुर्बलता। हम दुःखी हो जाते हैं क्योंकि हम दुर्बल हैं। हम दुःख भोगते हैं क्योंकि हम दुर्बल हैं हम मर जाते हैं क्योंकि हम दुर्बल हैं। जहाँ हमें दुर्बल कर देने वाली कोई चीज नहीं, वहाँ न मृत्यु है न दुःख। इसलिए बल का नारा उद्‌घोष करते हुए उन्होंने कहा, "बल ही एकमात्र आवश्क वस्तु है। बल ही भवरोग की एकमात्र दवा है। धनिकों के द्वारा रौंदे जानेवाले निर्धनों के लिए बल ही एकमात्र दवा है। विद्वानों द्वारा दबाये जानेवाले अज्ञजनों के लिए बल ही एकमात्र दवा है और अन्य पापियों द्वारा सताये जानेवाले पापियों के लिए भी वही एक मात्र दवा है।"

भारत के तरुणों की दुरवस्था देखकर वे बड़े दुःखी हुए थे। कम उम्र में ही विवाहित हो, गृहस्थी का बोझा ढोने के लिए बाध्य, अल्प आयु

में ही नौनिहालों के जनकों की पदवी पर प्रतिष्ठित, चलते फिरते मुर्दों के रूप में तरुणों को अवस्था देख उनका हृदय द्रवित हो उठा था तथा वे उनके उद्धार के लिए कटिबद्ध हुए थे। उन्होंने कहा था, "देह में शक्ति नहीं, हृदय में उत्साह नहीं, मस्तिष्क में प्रतिभा नहीं--क्या होगा रे, इन जड़ पिण्डों से ? मैं हिला डुलाकर इनमें स्पन्दन लाना चाहता हूँ। इसलिए मैंने प्राणान्त प्रण किया है कि वेदान्त के अमोघ मंत्र से इन्हें जगाऊँगा। 'उत्तिष्ठत जाग्रत' इस अभयवाणी को सुनाने के लिए ही मेरा जन्म हुआ है।"

शारीरिक बल के साथ ही उन्होंने मानसिक बल की आवश्यकत पर भी बड़ा जोर दिया था। मनुष्य के एकांगी विकास के वे पक्षपाती नहीं थे। उनका कहना था कि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निवास होना चाहिए। इसलिए शारीरिक और मानसिक शक्ति के सम्यक् विकास के लिए नवयुवकों को उद्‌बुद्ध करते हुए वे कहते हैं, "आज हमारे देश को जिस चीज की आवश्यवता है वह है लोहे की मांसपेसियाँ और फौलाद के स्नायुप्रचण्ड इच्छाशक्ति जिसका अवरोध दुनिया की कोई ताकत न कर सके, जो जगत के गुप्त तथ्यों और रहस्यों को भेद सके और जिस उपाय से भी हो अपने उद्देश्य की पूर्ति में समर्थ हो फिर चाहे समुद्र तक में ही क्यों न जाना पड़े--साक्षात मृत्यु का ही सामना क्यों न करना पड़े।"

शारीरिक और मानसिक शक्ति के विकास के लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य के पालन पर बहुत जोर दिया था। उन्होंने कहा था कि यदि काम शक्ति का उदात्तीकरण करके उसे ओज शक्ति में परिणत किया जाय तो मन अत्यन्त शक्तिशाली होगा तथा वह वासनाओं और दुर्बलताओं के द्वारा चलायमान नहीं होगा। और यह ब्रह्मचर्य के माध्यम से ही साधित हो सकता है। नवयुवकों को वे श्रीराम के अनन्य दास बाल ब्रह्मचारी हनुमानजी को अपना आदर्श बनाने का उपदेश देते हुए कहते, "अब तुम्हें महावीर के जीवन को अपना आदर्श बनाना होगा। देखो वे कैसे श्रीरामचन्द्र की आज्ञा मात्र से विशाल सागर को लांघ गये ! उन्हें जीवन या मृत्यु से कोई नाता नहीं था। वे सम्पूर्ण रूप से इन्द्रियजित थे और उनकी प्रतिभा अद्‌भुत थी। अब तुम्हें अपना जीवन दास्य शक्ति के उस महान आदर्श पर खड़ा करना होगा। उसके माध्यम से क्रमशः अन्य सारे आदर्श जीवन में प्रकाशित होंगे। गुरु की आज्ञा का सर्वतोभावेन पालन और अटूट ब्रह्मचर्य--बस यही सफलता का रहस्य है। हनुमान एक ओर जिस प्रकार सेवादर्श के प्रतीक हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर सिंह विक्रम के भी प्रतीक हैं। सारा संसार उनके सम्मुख श्रद्धा और भय से सिर झुकाता है।"

इस प्रकार ब्रह्मचर्य पालन से शारीरिक और मानसिक शक्ति से युक्त हो वे नवयुवकों को अपना जीवन भारत-भारती की सेवा में लगा देने का आह्वान करते हुए ज्वलन्त भाषा में कहते हैं—"जाओ, जाओ, तुम सब लोग वहाँ जाओ, जहाँ प्लेग फैला हो, जहाँ दुर्भिक्ष काले बादलों की भाँति छा गया हो, जहाँ लोग दुःख कष्ट के भार से पीड़ित हों और जाकर उनका दुःख हल्का करो। अधिक से अधिक क्या होगा ? यही न कि इस प्रयत्न में तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी ? पर उससे क्या ? तुम्हारे समान कितने ही लोग कीड़ों की भाँति प्रतिदिन जन्म ले रहे हैं और मरते जा रहे हैं ! इससे इस बड़ी दुनिया का भला कौन सा टोटा हो जाता है ? तुम्हें मरना तो होगा ही, तो फिर एक महान् आदर्श लेकर क्यों न मरो ? जीवन में एक आदर्श लेकर मर जाना कहीं बेहतर है। द्वार-द्वार इस आदर्श का प्रचार करो और इससे तुम्हारी अपनी उन्नति तो होगी ही, साथ ही तुम अपने देश का भी कल्याण करोगे। तुम्हीं पर सारे देश का भविष्य निर्भर है—उसकी भावी आशाएं केन्द्रित हैं। तुम्हें अकर्मण्य जीवन बिताते देखकर मुझे मार्मिक पीड़ा होती है। उठो ! उठो ! काम

में लग जाओ! शीघ्र शीघ्र! इधर उधर मत देखो--समय मत खोओ, दिन पर दिन काल तुम्हारे अधिकाधिक निकट आता जा रहा है यह सोचकर निठल्ले बने मत बैठे रहो कि समय आने पर सब कुछ हो जायेगा। ध्यान रखो, ऐसा करने से कुछ भी न हो सकेगा।"...

"ऐ नवयुवकों, मैं गरीबों, मूर्खों और उत्पीड़ितों के लिए इस सुहानुभूति और अथक प्रयत्न को थाती के तौर पर तुम्हें सौंपता हूँ। जाओ इसी क्षण जाओ इस पार्थसारथि के मन्दिर में जो गोकुल के दीन दरिद्र ग्वालों के सखा थे, जो गुहक चाण्डाल को भी गले लगाने से न हिचके, जिन्होंने अपने बुद्धावतार में अमीरों का न्योता अस्वीकार कर एक वारांगणा का न्योता स्वीकार किया और उसे उबारा। जाओ उसके पास, जाकर साष्टांग प्रणाम करो ओर उनके सम्मुख एक महाबलि दो, अपने जीवन की बलि दो---उन दीन पतित और उत्पीड़ितों के लिए, जिनके लिए भगवान् युग-युग में अवतार लिया करते हैं और जिन्हें वे सबसे अधिक प्यार करते हैं।"

जनता जनार्दन की निष्काम सेवा को ही ईश्वर की सच्ची पूजा बताते हुए उन्होंने कहा था, "सारी उपासना का सार है—पवित्र होना और दूसरों की भलाई करना। जो शिव को दीन-हीन में, दुर्बल में और रोगी में देखता है, वही वास्तव में शिव की उपासना करता है और जो शिव को केवल मूर्ति में देखता है,उसकी उपासना तो केवल प्रारंभिक है। जो मनुष्य शिव को केवल मन्दिरों में देखता है, उसकी अपेक्षा शिव उस व्यक्ति पर अधिक प्रसन्न होते हैं जिसने बिना किसी प्रकार जाति धर्म या सम्प्राय का विचार किये, एक दीन हीन में शिव को देखते हुए उसकी सेवा और सहायता की है।"

देश के पतन के प्रमुख कारणों में से एक था नारी जाति का निरादर। शक्ति स्वरूपा नारी का सम्मान न करने के कारण ही यह देश हजारों वर्ष तक गुलामी की जंजीरों से जकड़ा हुआ रहा है। नारी उत्थान से देश के नवजागरण की सम्भावना पर जोर देते हुए स्वामीजी ने कहा, "सभी उन्नत राष्ट्रों ने स्त्रियों को समुचित सम्मान देकर ही महानता प्राप्त की है। जो देश, जो राष्ट्र स्त्रियों का आदर नहीं करते, वे कभी बड़े नहीं हो पाये हैं और न भविष्य में ही कभी बड़े होंगे। यथार्थ शक्ति पूजक तो वह है जो यह जानता है कि ईश्वर में सर्वव्यापी शक्ति है और जो स्त्रियों में इस शक्ति का प्रकाश देखता है। अमेरिका में पुरुष अपनी महिलाओं को इसी दृष्टि से देखते हैं और उसके साथ उत्तम बर्ताव करते हैं। इसी कारण वे लोग सुसम्पन्न हैं, विद्वान हैं, इतने स्वतंत्र और शक्तिशाली हैं। हमारे देश में इस पतन का मुख्य कारण यह है कि हमने शक्ति की इन सजीव प्रतिमाओं के प्रति आदर बुद्धि नहीं रखी। मनु महाराज का कहना है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्त्राफलाः क्रियाः ।।

"जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवता प्रसन्न रहते हैं और जहाँ उनका आदर नहीं होता वहाँ सारे कार्य और प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं।" यदि स्त्रियाँ उन्नत हो जायँ तो उनकी सन्तान अपने उदार कार्यों द्वारा देश का नाम उज्ज्वल करेगी। तब तो संस्कृति, ज्ञान, शक्ति और भक्ति देश में जाग्रत हो जायेगी।

शक्ति के अप्रतिम सन्देशवाहक स्वामी विवेकानन्द के ये विचार आज भी हमारे लिए उतने ही महत्त्वपूर्ण प्रासंगिक तथा नवजीवन का संचार करने वाले हैं जितने कि पहले थे तथा आज भी वे राष्ट्र को उत्थान की एक नयी दिशा देने में समर्थ हैं। □

लोक कल्याणकारी समाज के सम्बाहक स्वामी विवेकानन्द

डॉ० प्रभा भार्गव
बीकानेर

स्वामी विवेकानन्द प्लेटो, अरस्तू, मार्क्स, ग्रीन या गांधी के समान कोई राजनीतिक चिन्तक नहीं थे और न ही उन्होंने किन्हीं राजनीतिक सिद्धांतों को प्रतिपादित किया। लेकिन यत्र तत्र अपने भाषणों और रचनाओं में जो भी विचार व्यक्त किये वे यह प्रस्थापित करने में पर्याप्त हैं कि वे भारतीय-राष्ट्रवाद के एक धार्मिक सिद्धान्त की नींव का निर्माण करना चाहते थे, जिनमें गांधी के समान ही राजनीति के आध्यात्मीकरण और उसके जन कल्याण स्वरूप की आकांक्षा थी। लोक कल्याणकारी समाज के प्रसंग में स्वामी विवेकानन्द का लोक कल्याण से अभिप्राय राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से व्यक्ति को अवसर की असमानता से दूर कर, उसकी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करना है। इस व्यवस्था का उद्देश्य किसी समुदाय विशेष, वर्ग विशेष अथवा समाज के किसी अंग विशेष का हित साधन नहीं अपितु जनता के सभी अंगों के कुछ आवश्यक हितों की साधना करना होता है। उनकी यह धारणा उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतीय समाज की पतनोन्मुख दशा का सूक्ष्म विश्लेषण कर उत्पन्न हुई जिनके निराकरण हेतु उन्होंने भरसक प्रयास किया। सम्पूर्ण भारतीय समाज में छुआछूत, श्रद्धा का अभाव, अंग्रेजियत और पाश्चात्य भौतिकवादी संस्कृति के प्रति अत्यधिक आकर्षण, शारीरिक विकास की अपेक्षा धनाभाव, सीखने के प्रति उदासीनता, स्वयं को हीन मानने की मनोदशा, मौलिकता और साहस की कमी, आलस्य, संकीर्ण दृष्टिकोण, धर्म की अपेक्षा, दुर्बलता व पिछड़ापन आदि ने अपना घर जमा लिया था। प्रचलित जातिवाद का देश और समाज के लिए आत्मघातक मानते हुए उन्होंने कहा कि जातिभेद केवल एक सामाजिक विधान है जिसकी उपयोगिता भूतकाल में जो भी रही हो पर अब तो वह भारतीय वायुमण्डल में दुर्गन्ध फैलाने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं करती। स्वामी जी के अनुसार वही समाज सर्वश्रेष्ठ है जहाँ सर्वोच्च सत्य कार्यान्वित हो सकता है। सर्वोच्च की ओर जाने के लिए निरन्तर प्रेरित करना दूसरों को भी इसमें सहायता देनी है। ये दो कार्य,- जो एक साथ चलेंगे- त्याग और सेवा की विवेकानन्द की नयी परिभाषा है। उनके 'दरिद्र-नारायण सेवा' के नये मन्त्र या गरीबों को ईश्वर की अभिव्यक्ति मानकर उनकी सेवा ने सम्पूर्ण देश को गहराई तक मथ दिया और सुप्त भारत राष्ट्रीय निर्माण के लिए एक बार पुनः उठ खड़ा हुआ।

उनकी समाज-चेतना में तीन वस्तुएं स्थान पा चुकी थीं। साधारण व्यक्ति में शिक्षा, जीवन में सुख और मनुष्य जीवन का धर्म। अभी तक मातृदेवो भव, पितृ देवोभव, आर्चाय देवो भव की धारणा प्रचलित थी लेकिन उन्होने एक नई वाणी दी—मूर्खदेवो भव, दरिद्र देवो भव, चाण्डाल देवो भव। मूर्ख को शिक्षा देकर उनको शिक्षित कर सुखी बनाना। चाण्डाल को शिक्षा या ब्राह्मणत्व देकर उनको भी सुखी बनाना है। वस्तुतः उनकी हार्दिक इच्छा थी कि इस जगत में वेदान्त की शिक्षाओं को ठोस व्यावहारिक रूप दिया जाय। यह तभी सम्भव है जब स्वतंत्रता और समानता के

आदर्शों को समस्त विश्व में लागू किया जाय। लौकिक स्तर पर वेदान्त का अर्थ- पूर्ण लोक तंत्र, समता, बाह्य सत्ता के भार को उतार फेंकना, संग्रह की मिथ्या भावना का परित्याग, सब विशेषाधिकारों को फेंक देना, श्रेष्ठता के घमण्ड का बहिस्कार करना और हीनताजन्य संकोच से छुटकारा पाना। उनकी रचनाओं में सामाजिक समानता का जो समर्थन देखने को मिलता है वह प्रवल पुरातनवाद तथा ब्राह्मणों की स्मृतियों में व्याप्त सामाजिक ऊँच-नीच की धारणा का सबल प्रतिवाद है। अतः उनका सामाजिक समानता का सिद्धान्त तत्वतः समाजवादी है।

वे समाज में सभी लोगों को सभी क्षेत्रों में समान अवसर देने के पक्षधर थे। "सभी मनुष्य समान हैं और सभी को आध्यात्मिक अनुभूति तथा परम-ज्ञान का अधिकार है।" नागरिकों को व्यापार-वाणिज्य के क्षेत्र में वे पूर्ण स्वतंत्रता देने के पक्ष में थे। इसके अतिरिक्त रोजगार के अवसर देने हेतु उन्होंने छोटे-छोटे उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन पर बल दिया। मूलतः वे न केवल आर्थिक समानता को ही सर्वाधिक महत्त्व दे रहे थे वरन् उनका आदर्श तो एक सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक मातृत्व था जिसमें अर्थिक समाजवाद के अतिरिक्त नैतिक तथा बौद्धिक आत्मीयता भी होगी।

उनकी मान्यता थी कि अखिल ब्रह्मांण्ड में स्वतत्रता की प्राप्ति के लिए प्रयास किया जा रहा है। स्वतंत्रता की ज्योति में ही विकास का पथ आलोकित किया जा सकता है अर्थात स्वतत्रता ही प्रगति का मूल है। इसीलिए उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में स्वतंत्रता का प्रबल समर्थन किया। चिन्तन और कार्य की स्वतंत्रता पर विशेष जोर दिया। चिन्तन को व्यक्ति और समाज की उन्नति की आवश्यक शर्त माना। उन्होंने अपनी समकालीन परिस्थितियों में गहराई से अवलोकन करते हुये बताया कि भारत में स्वतंत्र विचार का अभाव क्यों? यदि अपने देश को सुसंगठित और सम्पन्न राष्ट्र के रूप में देखना चाहते हैं तो अन्य देशोंकी सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन आवश्यक है।

राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण के लिए उन्होंने स्त्री और पुरुष की शिक्षा पर बल दिया। शिक्षित होने पर ही वे अपने हानि-लाभ का विचार कर सामाजिक कुरीतियों को निकाल बाहर करेंगे। समुचित शिक्षा के द्वारा आत्मा में जब पर्याप्त बल उत्पन्न हो जाता है तो उसके समक्ष किसी प्रकार का अत्याचार या दबाब टिक नहीं सकता। गरीबों के लिए वे निःशुल्क शिक्षा को अनिवार्य मानते थे। वे शिक्षा के मुख्य केन्द्र में कृषि, व्यापार, शिल्प आदि के प्रशिक्षण के प्रति सचेत थे। उनका जनसाधारण की शक्ति में असीम विश्वास था। वे यह बात जान चुके थे कि जन सामान्य में जब तक जागृति का संचार नहीं होगा तब तक समाज में घोर विषमता व्याप्त रहेगी। एक बार वे जाग गये थे तो अपनी दमनकारी सत्ता का सफाया कर देंगे। स्वामी जी की शिक्षा-योजना में धर्म और विज्ञान, त्याग और सेवा, आत्मोपलब्धि और जगत-कल्याण पर बल दिया गया। जीवन का लक्ष्य जो अन्दर एवं बाह्य प्रकृति के नियंत्रण के द्वारा अपने को स्वाधीन करना है, को स्पष्ट करने के बाद उन्होंने बताया कि जीवन की समस्याओं के प्रति उत्तरदायी होकर ही सर्वोच्च धर्म सार्थक होता है एवं जीवन की समस्यायें भी सर्बोच्च धर्म के प्रति उत्तरदायी होकर ही अर्थ पूर्ण होती है।

उन्होंने ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था की कटु आलोचा करते हुए कहा कि कोई भी व्यवस्था लोक कल्याणकारी तभी हो सकती है जब वह व्यावहारिक रूप में सहानुभूति, उदारता एवं संयताचार के आदर्शों पर आधारित हो। जातीय अहंकार या व्यक्तिगत गुणानुवाद से प्रशासन व्यवस्था की दृढ़ता को खतरा उत्पन्न हो जाता है। ईमानदारी तथा दृढ़ता के साथ कर्त्तव्य पर डटे

रहने से प्रशासनिक क्षमता का नैतिक आधार कायम किया जा सकता है। यह भी आवश्यक है कि कुछ वास्तविक सिद्धान्तों को हृदयंगम कर लिया जाय और फिर उनका दृढ़ता के साथ प्रत्येक परिस्थितियों में पालन किया जाये। उन्होंने उग्र क्रांतिकारी परिवर्तनों की अपेक्षा अवयवी ढंग के और धीमे सुधार का समर्थन करते हुये सामाजिक जीवन में यूरोप का अनुकरण करने की आलोचना की।

उनका लोक हितकारिता का विचार राष्ट्रीय ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय था। राष्ट्रीय लोक हित को स्थायी बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि किसी राज्य विशेष के हित-साधन के साथ अन्तर्राष्ट्रीय हित साधना का भी ध्यान रखा जाय और विभिन्न राज्यों में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के स्थान पर पारस्परिक सहयोग एवं सह-अस्तित्व से काम लिया जाय। उनकी दृष्टि में राष्ट्रीय स्तर पर कल्याणकारी राज्य की बात करना सर्वथा निरर्थक है जब तक वसुधैव कुटुम्बकम् का प्राचीन आदर्श यर्थाथ में परिणित नहीं हो जाता, तबतक कल्याणकारी राज्य का आदर्श स्थायी रूप से प्राप्त नहीं हो सकता।

स्वामीजी ने देश एवं विदेश के रामकृष्ण मिशन को जो रचनात्मक कार्यक्रम दिया उसमें आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य की गतिविधियाँ साकार रही हैं, जैसे-मनुष्य निर्माणकारी शिक्षा का प्रसार, ग्रामीण पुनर्निर्माण, निम्न और पिछड़े वर्ग के लोगों में कार्य, कला, विज्ञान और उद्योग धंधों का विकास जनता का आर्थिक एवं सामाजिक उन्नयन अछूतोद्धार, स्त्री शिक्षा, राष्ट्रीय-विपत्ति के समय राहत-कार्य, भारतीय संस्कृति की रक्षा, संचित जातीय आध्यात्मिक बुद्धि का विस्तार और सांस्कृतिक समन्वय का विकास आदि। यह मिशन शांत एवं दृढ़ मार्ग से इन कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में अन्य संस्थाओं को प्रेरणा दे रहा है। इसके रचनात्मक कार्यों के कुछ अंश तो भारतीय संविधान में अन्तर्भुक्त किये गये। इतना ही नहीं, स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार की पंचवर्षी योजना ने उपर्युक्त विषयों में से कुछ विषयों को गंभीरता से लिया है।

स्वामी विवेकानन्द के प्रति

—उदय नारायण खवाड़े
देवघर (बिहार)

हे ज्ञान शिखा, हे कर्मवीर हे भारत का इतिहास
तुम्हें बुलाती तेरी माता ले अन्तर में आश।
तेरी धरती आहें भरती उन मूल्यों, उन आदर्शों को
हे विचार के कलाकार, आ एक बार फिर पास।

बदलो इन हाथों की रेखा, दिल में दो शक्ति का सिन्धु
बाहों को इस्पाती कर दो, नयनों में चमका दो इन्दु
हट जाए तम, छँट जाए गम, फैला दे फिर वही प्रकाश।
हे सप्तऋषि के एक ऋषि, तुम वादा दो तो आएँ वो
वो रामकृष्ण, तुम स्वामी जी, युग परिवर्तन को सक्षम दो
दो बुझा प्यास, आशा आकाश, हे युवा - हृदय - विश्वास।

रत्नाकर

सन् १८०० के ३१ जनवरी को स्वामीजी ने अमेरिका में पेसाडेना के शेक्सपीयर क्लब में रामायण के सम्बन्ध में एक वक्तृता दी थी। रामायण की कहानी सुनाने के पहले उन्होंने महर्षि बाल्मीकि की कहानी श्रोताओं को सुनायी थी। (जो जिसके बारे में चिन्तन करता है, वह उसके गुणों को भी प्राप्त कर लेता है, चोर भी संत हो जाता है।)

प्राचीन समय की बात है। एक युवक काफी प्रयासों के बावजूद परिवार का भरण-पोषण नहीं कर पाता था। उस युवक का नाम था रत्नाकर। उसका शरीर अत्यन्त मजबूत एवं बलिष्ठ था। अभावों से तंग आकर अन्ततः उसने डकैती करना प्रारंभ कर दिया।

वह सुनसान रास्ते के किनारे छिपकर रहता था। किसी भी असहाय राही पर हमला कर वह उससे सारा सामान छीन लेता। यदि कोई विरोध करता तो वह उसकी जान लेने में भी नहीं हिचकता। पिता, माता, पत्नी एवं स्वयं वह-इन चार सदस्यों से बना हुआ था। उसका परिवारडकैती करते हुए वह जो भी धन कमाता, उसी से उसका खर्च चल जाता था।

एक बार देवर्षि नारद उस रास्ते से गुजर रहे थे। मौका पाकर रत्नाकर ने उस पर हमला कर दिया। वह मुनि, ऋषि, धनी, गरीब—किसी को न छोड़ता था। कड़कती आवाज से रत्नाकर ने कहा, "पुजारी जी, आपके पास जो कुछ भी है मुझे दे दें, नहीं तो अभी-अभी आपका मस्तक काट लूँगा।"

नारद जरा भी विचलित नहीं हुए। एक सरसरी निगाह से नारद ने रत्नारक को देखा। उसके पश्चात् शान्तस्वर में कहा, "मेरा मस्तक काटोगे? तुम क्यों मेरा सर्वस्व लेना चाहते हो? तुम्हें मालूम नहीं कि डकैती करना पाप है? मानव-हत्या महापाप है? तुम क्यों स्वयं को इस महापाप के भागीदार बना रहे हो?

रत्नाकर को देखकर सभी राहगीर डर जाते थे। परन्तु नारद इनमें अपवाद थे। वे डरे तो तनिक भी नहीं, उल्टे उसे उपदेश देना शुरू कर दिया। रत्नाकर चकित रह गया। उसने उत्तर दिया, "इस काम के सिवा और कोई रास्ता भी नहीं है, मेरे पास। डकैती के धन से ही मैं अपने परिवार का निर्वाह करता हूँ।

नारद जी ने पुनः प्रश्न किया, "अच्छा तुम क्या सोचते हो, जो लोग (परिवार के सदस्य) तुम्हारी आय का हिस्सा ले रहे हैं, वे तुम्हारे पाप के भी भागीदार बनेंगे?

"अवश्य ही बनेंगे" रत्नाकर ने उत्तर दिया" मेरी आय के भागीदार वे आनन्द के साथ बन रहे हैं, अतः वे निश्चित रूप से मेरे पाप का भी भागीदार बनेंगे!"

नारद ने कहा "तुम एक काम करो। मुझे यहाँ बाँध दो ताकि मैं भाग न सकूँ और तुम एकबार अपने परिवार के सदस्यों से पूछ कर आओ कि वे तुम्हारे पाप के भागीदार बनने को तैयार हैं कि नहीं।"

नारद की बातों को सुनकर रत्नाकर की चिन्ताधारा में थोड़ा आघात जरूर पहुँचा। इस दृष्टिकोण से पाप के बारे में कभी सोचा न था। नारद के परामर्शानुसार वह उन्हें वृक्ष के साथ बाँधकर अपने घर गया।

सबसे पहले उसने पिताजी से पूछा, 'पिताजी, मैं किस तरह से अर्थोपार्जन करता हूँ, आपको पता है न ?"

"नहीं, मुझे नहीं पता"—पिता ने कहा।" मैं डकैती करता हूँ, पिताजी। लोगों की हत्या कर उनके रुपये-पैसों से आप लोगों का निर्वाह करता हूँ।"

यह बात सुनकर पिता काफी क्रोधित हो गये। उन्होंने कहा, "क्या कहा ? लोगों की हत्या करते हो ? उन्हें लूटते हो ? ऐसा जघन्य अपराध करने के पश्चात् भी तुम लोगों को मेरा पुत्र कहकर अपना परिचय देते हो ? तुम महापापी हो। मैंने तुम्हें पुत्र पद से त्याग दिया।"

पिता के उत्तर से दुःखित होकर रत्नाकर माँ के पास गया एवं प्रश्न किया, "मैं कैसे खर्च चलाता हूँ इस परिवार का, आपको पता है ?"

माँ ने कहा "नहीं बेटा, तुमने तो कभी इसका जिक्र भी नहीं किया।"

रत्नाकर ने कठोर होकर कहा, "मैं डकैती करके पैसा कमाता हूँ।

पुत्र के अप्रत्याशित व्यवसाय के बारे में जान कर माँ कराह उठी एवं सहसा प्रश्न कर बैठी, "यह तुम क्या कर रहे हो बेटे ?"

पिता और माँ की हालत देख रत्नाकर के मन में कुछ परिवर्त्तन अवश्य आया एवं कांपते स्वर में उसने माँ से पूछा "माँ क्या तुम मेरे पापपूर्ण कार्य से होने वाले पाप का भागीदार बनोगी ?"

माँ ने अम्लान स्वर से कहा, "मैं क्यों तुम्हारे पाप का भागीदार बनूंगी ? मैं तो तुम्हारे साथ डकैती करने नहीं गई थी, न हो मैंने तुमसे ऐसा करने को कहा था।"

माँ से यह उत्तर सुनकर रत्नाकर वहाँ खड़ा नहीं रह सका और अन्ततः अपनी पत्नी के पास जाकर उसने कहा, "तुम्हें शायद नहीं मालूम कि मैं एक डकैत हूँ। जिस पैसे से तुम लोगों का निर्वाह होता है, वह डकैती का पैसा है ! जो भी हो, मैं यह जानना चाहता हूँ कि तुम मेरे पाप का भागीदार बनोगी या नहीं।"

बेझिझक पत्नी ने खिन्न स्वर में कहा, "तुम्हारे पाप का भागीदार मैं नहीं बन सकती। तुम मेरे पति हो। मेरे खाने पहनने का खर्च चलाना तुम्हारा कर्त्तव्य है। तुम चाहे जैसे भी कर्त्तव्य-पालन करो, इसके लिए मैं जिम्मेदार नहीं हूँ। तुम कैसे हमारा निर्वाह करते हो, यह जानने की भी मुझे जरूरत नहीं।" इतना कुछ सुनने के पश्चात् रत्नाकर का मन आंदोलित हो उठा था। वह पल-भर भी देर किए बिना नारद जी के पास पहुँचा। जाते-जाते वह सोच रहा था कि शायद संसार का यही नियम है। जो लोग मेरे सबसे निकट हैं, आत्मीय हैं, जिन लोगों के लिए मैं महापाप कर रहा हूँ वे भी मेरे पाप का भागीदार बनने को तैयार नहीं। धन का भाग लेने में किसी को कोई आपत्ति नहीं, परन्तु पाप का भाग लेने में सभी मुँह चुराते हैं।

नारद के पास पहुँच कर रत्नाकर ने सर्वप्रथम उनका बन्धन खोल दिया। तत्पश्चात उनके चरणों में गिरकर कहा, "प्रभु, आप देवता हैं। आप मेरा उद्धार करें। मेरी क्या गति होगी, मैं क्या करूँ—मुझे कुछ भी समझ में नहीं आता।

नारद रत्नाकर की मनःस्थिति का अनुमान पहले ही लगा चुके थे। उन्होंने कहा, "रत्नाकर, तुम अब डकैती करना छोड़ दो। तुम्हारे परिवार के सदस्यगण तुम्हें कितना चाहते हैं, तुमने देख ही लिया। उन लोगों की मोह माया को तोड़ तुम भगवान की उपासना करो।"

"मैं तो कुछ भी नहीं जानता हूँ, प्रभु"—दस्य ने उत्तर दिया।

प्रसन्न होकर नारद ने कहा, "उसके लिए मत सोचो, मैं तुम्हें सब सिखला देता हूँ।"

रत्नाकर के लिए नारदजी ने उपदेश द्वारा तपस्या का मार्ग प्रशस्त किया। वह उसी स्थान पर आसन ग्रहण कर एकाग्र मन से भगवान का ध्यान करने लगा। वह ईश्वरोपासना में इतना तन्मय हो गया कि शरीर का ध्यान ही न रहा। अनेक दिन व्यतीत हो गये। दीमक से उनका सम्पूर्ण शरीर ढक गया। वह भगवान के ध्यान में इतना निमग्न था कि उसे यह भी पता न चला कि कितने दिन बीत गये हैं।

दीर्घकाल व्यतीत हो गया। अचानक एक दिन रत्नाकर ने सुना कि कोई उसे मधुर कंठ से पुकार रहे हैं।—"महर्षि उठो।"

रत्नाकर अप्रतिम रह गया। कौन है महर्षि? वह तो दस्यु रत्नाकर है। फिर वही वाणी उसके कानों में पड़ी, "तुम अब दस्यु न रहे। अब तुम महर्षि बन गये हो।"

रत्नाकर ने देखा कि उसके समक्ष महर्षि नारद खड़े हैं। भक्तिपूर्ण नेत्रों से उसने नारद को प्रणाम किया। नारद ने कहा "महर्षि, तुम अब दस्यु न रहे। तुम रत्नाकर नहीं हो, तुम ऋषि हो—महर्षि वाल्मीकि। भगवान के ध्यान में तुम इतना तन्मय हो गये थे कि तुम्हारे चारो ओर वाल्मीक का ढेर लगा और तुम उसी में बैठ तपस्या करते रहे। अतः तुम्हारा नाम हुआ वाल्मीकि।"

दस्यु रत्नाकर का अस्तित्व समाप्त हो गया। उस स्थान पर महर्षि बाल्मीकि का आविर्भाव हुआ। बाल्मीकि के कण्ठ से ही सर्व प्रथम कविता का स्वर फूटा था। अतः उन्हें आदिकवि भी कहते हैं।

एक दिन वे गंगा की ओर स्नान करने के लिए जा रहे थे। जाते-जाते उन्होंने देखा कि एक वृक्ष की शाख पर एक क्रौंच युगल आनन्द से खेल रहा था। इस दृश्य को देख बाल्मीकि भी आनंदित हो उठे। ठीक उसी समय एक तीर ने आकर उस युगल में से एक को धराशायी कर दिया। तीर क्रौंच के वक्ष पर लगा था। दूसरा क्रौंच अपने धराशायी साथी के समीप आकर घूमने लगा। इस करुण दृश्य को देख उनका हृदय द्रवीभूत हो गया। इतने में उन्होंने एक शिकारी को आते देखा।

उसे देख बाल्मीकि के कण्ठ से आप ही फूट निकला :—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधी काममोहितम्।

"दो क्रौंच आनन्द से खेल रहे थे, उनमें से एक की तुमने हत्या की। अरे शिकारी, कभी तुम्हारा कल्याण न होगा।"

इस वाक्य के मुख से निकलते ही बाल्मीकि ने सोचा, "यह क्या, मैं यह क्या कह रहा हूँ? मैं तो इसके पूर्व कभी इस तरह से नहीं कहता था।"

उसी क्षण देववाणी सुनाई पड़ी "बाल्मीकि डरो मत। तुम्हारे कण्ठ से आज जो वाणी निकली, उसका नाम है कविता। शोक के समय इसका प्रादुर्भाव हुआ। अतः इसका नाम हुआ श्लोक। इसी श्लोक की भाँति तुम श्लोकों में श्री रामचन्द्र के जीवन का वर्णन करो। इससे जगत् का महत् उपकार होगा।

आदि कवि बाल्मीकि ने जगत् उपकार के लिए रामायण की रचना की।

स्वामी अद्भुतानन्द की जीवन-कथा

—चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय

अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द

हम पहले ही कह आये हैं कि लाटू महाराज ने लगभग नौ वर्षों तक निरन्तर बलराम मन्दिर में निवास किया था। इन नौ वर्षों के दौरान वे किस तरह रहे थे, इसका बिहारी बाबू ने संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया है—"शास्त्रों में कहा है कि ज्ञानी निर्जन में निवास करेंगे,' परन्तु क्या हिमालय और क्या कलकत्ता—सब अपने मन के भीतर ही हैं, हिमालय में जाकर कलकत्ते के स्वप्न देखते रहना, हिमालय वास नहीं कलकत्ता वास ही है। यदि शरीर काशी में हैं, पर मन कलकत्ते में बाल-बच्चों पर लगा हुआ है, तो वह काशीवास नहीं कलकत्ता वास है। लाटू महाराज इस जनसंकुल कलकत्ता महानगरी में रह कर भी निर्जनवास करते थे। गंगा तट पर काशी मिश्र घाट के उत्तर में स्थित गोघाटा में, या बिडन गार्डेन के बेंच पर अथवा 'वसुमती' प्रेस के बाक्स पर बैठकर वे एकाकी ध्यान करते हुए दिन-रात बिताते थे—यह निर्जनवास के अतिरिक्त और क्या है ? इसी प्रकार उनके जीवन के कितने ही वर्ष बीत गये है। उनके कलकत्ता निवास का अर्थ था—अपने गुरु स्थान दक्षिणेश्वर से पंचक्रोश के भीतर रहना। वे, कलकत्ता शहर को अपने गुरु-स्थान का पंचक्रोशी क्यों कहते थे, यह काशी में हुए एक वार्तालाप से स्पष्ट हो जाता है।' उन्होंने एक व्यक्ति से कहा था, 'वहाँ (दक्षिणेश्वर में) माँ काली हैं, विष्णु हैं, द्वादश शिव हैं ओर माँ गंगा हैं। उन्होंने (श्रीरामकृष्ण) स्वयं वहाँ कितने दिनों तक तपस्या की, कितने साधु महात्माओं का वहाँ आगमन हुआ, कितने भक्तों ने वहाँ साधना की—ऐसे स्थान को तीर्थ स्थान नहीं तो और क्या कहोगे ?' वे इसी दृष्टि से दक्षिणेश्वर को देखते थे और वे उसकी पंचक्रोशी के भीतर तीर्थवासी के समान नियमित रूप से जप-ध्यान, साधुसंग तथा सच्चर्चा लेकर जीवन यापन करते थे, इसमें आश्चर्य ही क्या ?"

बलराम मन्दिर में निवासकाल के दौरान भी वे दिन का अधिकांश भाग एकाकी ही बिताते थे। केवल सुबह में और सन्ध्या के बाद वे भक्तों के साथ विविध विषयों पर वार्तालाप करते थे। बात-चीत और चर्चा के समय लाटू महाराज प्रायः एक अलग ही प्रकार के मनुष्य प्रतीत होते थे। उस समय वे बड़े मुखर हो उठते और एक बार बोलना आरम्भ करने पर फिर वे दूसरे को बोलने का अवसर ही नहीं देते थे। परन्तु जिस दिन उनकी बोलने की इच्छा नहीं होती, उस दिन कोई हजार प्रश्न करे तो भी वे चुप ही रहते थे। उन दिनों जिन्होंने उन्हें देखा है, वे कहते थे कि लाटू महाराज बड़े ही (dull and grave) अर्थात् शान्त और गंभीर स्वभाव के साधु हैं। परन्तु अन्य समय जो लोग उनके सम्पर्क में आ चुके हैं, उनका कहना है कि लाटू महाराज के समान खुले दिल के और सहानुभूति-सम्पन्न साधु दुर्लभ हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अपने भाव में विभोर रहने पर लाटू महाराज गम्भीर हो जाते थे, परन्तु यदि कोई उनके गाम्भीर्य का आवरण भेदकर उनके साथ वार्तालाप करने का सौभाग्य पा लेता, तो उन्हें लाटू महाराज की आन्तरिक प्रीति व करुणा में अवगाहन करने का सुयोग मिल जाता था।

बलराम मन्दिर में एक दिन नन्दलाल ब्रह्मचारी ने उनसे कहा—'आपके जैसे महात्मा को

ऐसे लोगों का संग करना उचित नहीं।' यह सुनते ही लाटू महाराज बोल उठे—'कौन साला महात्मा हुआ है ? तुम मूर्ख लोग आकर मेरी खशामद करते हो। मैं तो महात्मा नहीं बन सका हूँ। क्या तुम मूर्ख लोग जानते हो कि महात्मा किसे कहते हैं ?' ब्रह्मचारी ने हँसते हुए कहा—'जानता हूँ महाराज ! जो गरीबों का मित्र है, वही महात्मा है।' लाटू महाराज बोले—'गरीबों का मित्र कौन साला हो सकता है ? भगवान् को छोड़ गरीबों का और कोई बन्धु नहीं है। एकमात्र वे ही जीव का दुःख समझते हैं, दूसरा कौन समझेगा !' ब्रह्मचारी ने कहा—'साधु-संन्यासी और भगवान् के भक्त—ये भी तो जीव का दुःख समझते हैं महाराज ! यही जैसे स्वामीजी, परमहंसदेव, ईसा, बुद्ध, चैतन्य और यहाँ तक कि आप भी जीवों का दुःख समझते हैं।' लाटू महाराज बोले—'भाग यहाँ से ! तुम लोग हमेशा मेरी खुशामद करते हो।'

इस प्रकार खूब डाँट-फटकार सुनाने के पश्चात् लाटू महाराज के मुख से निम्नलिखित बातें निःश्रित हुई थीं—"जो स्वयं गरीब है वही तो गरीब से प्रेम कर सकता है। जो स्वयं को बड़ा आदमी समझता है, वह भी क्या कभी गरीबों का दुःख समझ सकता है ? स्वयं दुःखभोग किए बिना दूसरे का दुःख समझा नहीं जा सकता। इसीलिए तो विवेकानन्द भाई ने हरि भाई से कहा था, 'देख ! संन्यास लेकर और कुछ भले ही न हुआ हो, पर हृदय बड़ा हो गया है' " उस दिन लाटू महाराज ने और भी कहा था—"बड़ा आदमी होकर भी जिसके दिल में दान करने की इच्छा जागी है, उसके प्रणों में गरीबों के दुःख का बोध हुआ है। इसीलिए तो वह अपने रुपये-पैसे दूसरों के लिए खर्च कर पाता है। भगवान् इस संसार में ऐश्वर्य देकर जीव की परीक्षा लेते हैं। मनुष्य की परीक्षा में पास हुआ जा सकता है, धोखा देना भी सम्भव है; परन्तु भगवान् की परीक्षा अत्यन्त कठोर है। उसमें पास करना बड़े लोगों के लिए बड़ा कठिन है। मान लो भगवान् ने किसी को धन दिया, पर साथ ही वे अपनी माया में उसे ऐसा भुला रखते हैं कि जीवन भर उसमें दान करने की इच्छा ही नहीं जागती। फिर दूसरी ओर वे किसी को दान करने की इच्छा तो देते है, पर यथेष्ट धन नहीं देते। जहाँ पर देखना कि भगवान् ने धन भी दिया है और दान करने की इच्छा भी दी है वहाँ समझ लेना कि उनकी दया है।....जानते हो न, रुपया-पैसा होने से ही मन में अहंकार बढ़ता है। जिसमें जितना ही अहंकार होता है, वह भगवान् से उतना ही दूर हो जाता है और जिसका मन भगवान् से जितना ही दूर चला जाता है, वह उतना ही बड़ा गरीब हो जाता है। धन-दौलत व ऐश्वर्य के द्वारा जीव की गरीबी मत मापो। जीव की गरीबी की माप भगवान् से उसकी दूरी के आधार पर होती है। जो जितना भगवान् पर निर्भर करता है वह उतना ही धनी है; और जो जितना ही भगवान् को बिसारे रहता है, वह उतना ही गरीब है, उतना ही दुःखी है।"

ये बातें सुनकर निकट ही बैठे ग्रन्थकार ने उनसे कहा—"महाराज ! भगवान् को लेकर आपने सुख-दुःख की अच्छी बातें कहीं, परन्तु हम लोग तो प्रतिदिन देखते हैं कि रुपये-पैसे के द्वारा ही गृहस्थ के सुख-दुःख का खेल चल रहा है। हमें तो दीख पड़ता है कि जिसके घर में धन नहीं उस गृही के जीवन में सुख-शान्ति कुछ भी नहीं है, उसके ऊपर दुःख का बोझ मात्र है, जीकर भी वह मृत के समान है। और जिसके घर में धन है, उसके धर्म है, सुख है, शान्ति है, यहाँ तक कि उसके इहलोक और परलोक दोनों हैं।"

इसके उत्तर में लाटू महाराज बोले—"देखो ! यदि रुपये-पैसे होने से ही धर्म होता, सुख होता, शान्ति होती; तो फिर कलकत्ते के जितने भी बड़े-बड़े लोग हैं, पहले वे ही सुखी होते, धार्मिक होते और कुछ नहीं तो जीवन में शान्ति लाभ करते।

परन्तु तुम्हीं बताओ कि उनके घर की अशान्ति गरीबों से ज्यादा है या कम ? समझ लेना कि धन से घर द्वार, दास दासी, जमीन जोरू यही सब होता है, पर सुख-शान्ति तथा धर्म नहीं होता। ये तीनों अन्तर की चीजें हैं। वहाँ (अन्तर) का अभाव दूर किये बिना कोई सुखी नहीं हो सकता और भगवान् को पाये बिना अन्तर का अभाव दूर नहीं होता। इसीलिए भगवान के साथ सुख-दुःख का सम्बन्ध मानना पड़ता है, प्रत्यक्ष योग न होने पर भी किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध है, यह निश्चित जान लेना।"

एक अन्य दिन की बात है। एक भक्त ने लाटू महाराज से कहा—"महाराज ! आप भिक्षा वगैरह करके जो कुछ पाते हैं, वह सब तो हम लोगों पर ही खर्च कर देते हैं, अपनी आवश्यकता के लिए कुछ भी नहीं रखते। कहाँ तो हम भी साधु-संन्यासी को कुछ देते, सो तो होता नहीं बल्कि हमीं लोग आपका खाते रहते हैं। हम लोगों के लिए भिक्षा मांगकर आप हमें क्यों पाप का भागी बनाते हैं ?"

लाटू महाराज ने उनसे पूछा—'तुम्हारी क्या इच्छा है, बताओ ?'

भक्त—'आप अब और भिक्षा न करें, यही हमारी इच्छा है।'

लाटू महाराज—यह तो जानते हो कि संन्यासी को भिक्षा माँगनी चाहिए ! फिर क्यों मुझसे ऐसी बात कहते हो ?'

भक्त—'बड़ा दुःख होता है, महाराज ! इसीलिए आपसे यह बात कह रहा हूँ।'

लाटू महाराज—'क्यों, तुम लोगों को किस बात का दुःख है ?'

भक्त—'महाराज, हम लोगों को दुःख इस बात का है कि (यह कहते हुए भक्तों की आँखों में आँसू आ गये थे) हम लोगों के लिए भिक्षा करने जाकर आप कटु बातें सुन आएँगे और हम लोग इसे सहन नहीं कर सकते।'

लाटू महाराज—'क्यों ? क्या हुआ ? किसने मुझे कटु बातें कही हैं ?'

भक्त—'कल कहाँ पर भिक्षा करने को गये थे, महाराज ? हमारे लिए ही तो कल आपको इतनी सुननी पड़ी !'

लाटू महाराज—'ये सब बातें तुम्हें किसने बतायी ?'

भक्त—'कल की सारी घटना हमने महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) से सुनी। दुकानदार ने आपको कितनी ही गालियाँ दीं ! हमारे लिए ही तो आपको वे गालियाँ सिर झुकाकर ग्रहण करनी पड़ीं। कुछ लोगों ने मिलकर निश्चित किया है कि अब से आपको भिक्षा नहीं देंगे। जो कुछ जरूरत होगी, वह सब हम आपस में चन्दा लगाकर इकट्टा कर लेंगे।'

लाटू महाराज—'वह भी क्या भिक्षा नहीं कहलाएगा ?'

लाटू महाराज की बात सुनकर वे भक्त बड़े मर्माहत हुए। परन्तु इस पर भी नाराज हुए बिना ही उन्होंने कहना जारी रखा—'देखो ! संन्यासी का भी एक धर्म है—वह धर्म भी क्या तुम उसे पालन नहीं करने दोगे ? किसी के अभिमान को चोट पहुँचती है इस कारण संन्यासी अपना धर्म छोड़ देगा ? यह तुम्हारी कैसी बात है ?'

भक्त—'संन्यासी का धर्म क्या केवल भिक्षा करना ही है, महाराज ?'

लाटू महाराज—'नहीं। संन्यासी का धर्म है—भगवान् पर निर्भर रहना और उनके भक्तों का पालन करना। गुरु और भक्तों के लिए भिक्षा माँगने में संन्यासी को कोई कष्ट नहीं होता।'

भक्त—'गालियाँ खाकर भी क्या संन्यासी को भक्तपालन करना होगा ? आपके इस कथन का तो मैं कोई अर्थ नहीं समझ पाता।

लाटू महाराज—'वे कहते थे कि भिक्षा के लिए जाने पर, कोई गालियाँ देगा, तो कोई पैसे देगा। सब लेना।'

भक्त—'महाराज ! उसने आपको कितना सब क्या क्या कहा, तो भी आपने उसी के सामने हाथ फैलाकर भिक्षा ली। क्यों ली महाराज ?'

लाटू महाराज—'मैंने उसको कहा, भाई ! तुमने जो कुछ कहा सब ठीक है। हमारे न तो जटाजूट है, न चिमटा है, न शरीर पर राख मला हुआ है और न रुद्राक्ष की माला है। हम न तो बीमारी ठीक कर पाते हैं, न हाथ देखना जानते हैं और न ही तावीज देते हैं। परन्तु हम किसी का अकल्याण नहीं चाहते, सभी लोग सुखपूर्वक रहें यही हमारी कामना है। मैंने और भी कहा—देखो भाई ! तुम लोगों के भरोसे हममें से कोई भिक्षा के लिए नहीं निकलता। गुरुदेव की इच्छा होने पर हम लोगों को भिक्षा मिलेगी। उनकी इच्छा हुए बिना तुम लोगों का दिल भला कैसे खुलेगा ? देनेवाले तुम लोग नहीं हो, बल्कि दान के मालिक हैं वे। मेरी यह बात सुनकर दुकानदार का हाथ खुल गया।'

भक्त (उत्तेजित होकर)—'वह सब अब और नहीं जानना चाहता महाराज ! हमारा अनुरोध आपको मानना होगा। हम लोग आपके भक्त हैं, आपको हमारी सेवा ग्रहण करनी होगी।'

लाटू महाराज—'देखो ! संन्यासी से ऐसा अनुरोध नहीं करना चाहिए। शास्त्र विधान के अनुसार संन्यासी को भिक्षा माँगनी पड़ती है; वह विधान मैं मानकर चलूँगा।'

भक्त (उत्तेजना पूर्वक) 'और भक्त-विधान के अनुसार उसे संन्यासी की सेवा करनी पड़ती है; हम भी उस विधान को मानकर चलेंगे।'

यह सब सुनकर लाटू महाराज हँसते हुए बोले 'अच्छा ! बताओ तो, यह सब बात तुम्हें किसने सिखायी है ?'

भक्त—'महाराज, आपके ही एक गुरुभाई ने !'

लाटू महाराज—'ओह ! इसीलिए तो तुम लोगों का इतना हठ है। ठीक है, उसी की बात चलेगी। मैं तुम लोगों का पैसा स्वीकार करूँगा। राजा (स्वामी ब्रह्मानन्द) को कई ओर सोचकर चलना पड़ता है, समझे ? उसी को मठ के सुनाम की रक्षा करनी पड़ती है। इसीलिए उसने तुम्हारे थ्रू मुझसे ऐसा अनुरोध किया है। उसकी बात मैं अवश्य मानूँगा।'

इसके बाद से लाटू महाराज यद्यपि भक्तों का दान स्वीकार करते थे, परन्तु अपनी आवश्यकता से अधिक एक पैसा भी ग्रहण नहीं करते थे। वे प्रायः कहते थे—'असली साधु के कुरते में जेब नहीं रहती।' इसका तात्पर्य पूछने पर उन्होंने बताया था—'अरे, कुरते में जेब रहने पर कुछ न कुछ संचय करने की प्रवृत्ति होती है, और कुछ नहीं तो सुपारी के दो-चार टुकड़े ही उसमें रख लिए जाते हैं। संन्यासी को उतना भी नहीं रखना चाहिए।'

संन्यास जीवन में दान ग्रहण के बारे में वे कितने विचारशील थे, यह बात इस घटना से समझ में आ जाती है—एक दिन वे एण्टाली के एक भक्त के यहाँ भिक्षा माँगने गये। परन्तु उस दिन लाटू महाराज को उनके हाथ से भिक्षा लेने में द्विधा होने लगी। उनके इस आचरण को देखकर पटल बाबू के मन में उत्सुकता जगी।

उन्होंने पूछा—'महाराज, भिक्षा माँगने आकर आपने रुपया वापस क्यों कर दिया ?'

लाटू महाराज—'अरे ! अभी वह नशे की झोंक में है। ऐसी अवस्था में रहने पर किसी का दान ग्रहण नहीं करना चाहिए।'

पटल बाबू—'क्यों, महाराज ?'

लाटू महाराज—'अरे ! अभी तो नशे की झोंक में दे दिया, पर नशा उतरने पर कहेगा कि साला मुझे ठगकर ले गया। जहाँ ऐसी बात उठने की सम्भावना हो, वहाँ कोई दान लेना उचित नहीं।

पटल बाबू—'महाराज ! आप इतना सोच-विचार करने के बाद ही दूसरों से पैसे लेते हैं ?'

लाटू महाराज—'जानते हो ? जो श्रद्धा के साथ दान करता है, मैं उसी के पैसे ले सकता हूँ; परन्तु लापरवाही का दान संन्यासी को स्वीकार नहीं करना चाहिए। अश्रद्धा का दान जो लेता है और जो देता है, दोनों का ही अकल्याण होता है।

इस सन्दर्भ में एक और घटना भी उल्लेखनीय है। एक दिन ग्रन्थकार ने स्वयं लाटू महाराज के चरणों में कुछ रुपये चढ़ाते हुए प्रणाम किया। इस पर लाटू महाराज बोले—'देखो ! इस समय मुझे रुपयों की आवश्यकता नहीं है। ये रुपये तुम अपने पास ही रखो, तुम्हारे काम आयेंगे। इन्हें तुम ले जाओ।' ग्रन्थकार ने बारम्बार कहा—'नहीं महाराज ! ये रुपये अब वापस न लूँगा।'' इस पर लाटू महाराज बोले—'देखो ! दो-चार दिन के भीतर ही तुम्हें रुपयों की जरुरत पड़ेगी, इन्हें ले जाओ।' आश्चर्य की बात है कि तीन दिन के भीतर ही ग्रन्थकार को एक ऐसी घटना में फँस जाना पड़ा कि उन रुपयों से उसे बड़ी सहायता मिली थी।

एक और घटना बताता हूँ, जिसमें उनकी क्षमा और आश्रितवत्सलता का निदर्शन मिलता है। काशी में एक दिन लाटू महाराज के घर से (भवन निर्माण के लिए संग्रहित) आश्रम के पाँच सौ रुपये चोरी चले गये। लाटू महाराज को ज्ञात था कि रुपये किसने लिये हैं, परन्तु तो भी उन्होंने किसी से कुछ कहा नहीं। यह संवाद पाकर कलकत्ते के एक भक्त काशी आये। आने के बाद वे लाटू महाराज से चोर को पुलिस में देने का अनुरोध करने लगे। इस पर लाटू महाराज ने उनसे कहा—'देखो, यह ठीक है कि लोभ संवरण न कर पाने के कारण उस बेचारे ने चोरी की है, परन्तु एक बार मैं जिसे आश्रय दे चुका हूँ, उसे पुलिस में देना क्या अच्छा दिखेगा ?'

उनकी क्षमा का एक और दृष्टान्त निम्न-लिखित है—एक दिन एक शराबी लाटू महाराज के पास आकर एक भक्त के प्रति खूब गालियाँ बकने लगा। उन भक्त के मित्र-सहयोगी इस पर नाराज होकर उस शराबी को मारने को उद्यत हुए। यह देखकर लाटू महाराज ने भक्तों से कहा—'देखो, वह तो शराब में मतवाला होकर गाली-गलौज कर रहा है और तुम लोग बिना शराब पिये ही मतवाले होकर गाली-गलौज कर रहे हो। भला बताओ तो, दण्ड किसे मिलना चाहिए ? उसे तुम लोग भला और क्या मारोगे ? शराब ने ही तो उसे मार डाला है, उसके विवेक को नष्ट कर दिया है। दो-एक आघात कर देने से ही क्या मारना हो जाता है ? वास्तविक मार से तो वह पहले से ही आहत है, और क्या मारोगे उसे ?'

संन्यास के पहले क्या और बाद में क्या, लाटू महाराज सर्वदा ही महिलाओं से यथासम्भव दूर ही रहते थे। बलराम मन्दिर में रहते समय वे किसी भक्त के साथ बात भी नहीं करना चाहते थे। एक दिन एक महिला भक्त (श्रीमाताजी की सेविका) बलराम मन्दिर में आकर लाटू महाराज से ठाकुर की बातें सुनने का आग्रह दिखाने लगीं। पर लाटू महाराज ने उनसे कहा—'देखो ! तुम लोग घर के भीतर जाकर माताजी से ठाकुर की बातें सुनो।' इस पर उन महिला भक्त ने दुःखी होकर कहा—'आपके मुख से ठाकुर के बारे में सुनने की मुझे इच्छा हुई है; आप ही कुछ बताइए न।' लाटू महाराज उनसे पुनः बोले—'माँ के पास जाओ। माँ तुम्हारी इच्छा पूर्ण करेंगी।' इतना

सुनकर भी वे महिला भक्तों के बीच से उठना नहीं चाहती थीं। तब लाटू महाराज ने अत्यन्त गम्भीर स्वर में उन्हें पुनः माताजी के पास जाने को कहा। तीन तीन बार कहने के बावजूद वे भक्त-महिला वहीं बैठी रहीं। इस पर लाटू महाराज ने उनसे कहा—'तुम कैसी भक्त हो जी, तीन तीन बार तुम्हें माताजी के पास जाने को कहा, पर तुम उठती क्यों नहीं? जाओ, माँ के पास जाओ।' तब वे भक्त-महिला खिन्न मन से कह उठीं—'ठाकुर की बातें सुनने के लिए शरत् महाराज ने मुझे आपके पास भेजा है, परन्तु आप तो कुछ बतायेंगे नहीं! मैं क्या इतनी ही अधम हूँ!' इससे लाटू महाराज ने क्या समझा मालूम नहीं। दूसरे ही क्षण वे उन महिला से बोले—'शरत् ने मेरे पास क्यों भेजा? मैं राजा (स्वामी ब्रह्मानन्द) को बताऊँगा। राजा का आदेश होने पर तुम्हें ठाकुर की बातें सुनाऊँगा। परन्तु उसका आदेश पाये बिना मैं तुम्हें कोई भी बात नहीं कहूँगा।'

निकट ही बैठे ग्रन्थकार की ओर उन्मुख होकर वे बोले—'चलो, अब राखाल के पास चलें, वह बैठी रहे।' राखाल महाराज के पास पहुँचते ही वे कह उठे—"यह क्या लाटू भाई! तुम तो आज बिना बुलाये ही आ गये। बाकी दिन बुलाने पर भी तुम नहीं आते!"

लाटू महाराज—"देखो न! अमुक कमरे में आकर तंग कर रही है। मैंने कहा कि माँ के पास जाओ, पर वह उठी नहीं, इसीलिए मैं तुम्हारे पास चला आया।' उसी समय वे महिला भी राखाल महाराज के पास आ पहुँची। उन्हें देखकर राखाल महाराज हँसते हुए बोले—"वहाँ लाटू के कमरे में क्यों गयी थी? लगता है शरत् ने तुम्हें भेजा था। देखो, शरत् के कहने पर उसे इस तरह तंग मत करो, इससे तुम्हारा ही अमंगल होगा।" उसी समय से वे भक्त-महिला बलराम मन्दिर में लाटू महाराज के पास फिर नहीं आयीं।

इस घटना के बाद से, ठाकुर के भक्तों में से कोई कोई लाटू महाराज को स्त्री-विद्वेषी कहा करते थे, परन्तु यद्यपि स्त्रियों का संग उन्हें बिलकुल भी पसन्द न था यथापि वे नारी-विद्वेषी नहीं थे। महिलाओं के प्रति लाटू महाराज के अन्तर में असीम करुणा थी। दो-चार घटनाओं से इसका प्रमाण मिल जाता है। एक बार बागबाजार में उन्होंने एक भक्त-महिला से कहा था—"आप लोग धरती माता के समान सहन किया करती हैं। भगवान् ने आप लोगों को यह एक असाधारण गुण दिया है। आप लोगों के न रहने पर घर के अभाव और शिकायतों से पुरुष लोग पागल हो जाते हैं। आप लोगों ने ही उन्हें बचा रखा है।"

—०—

(स्वामी अद्भुतानन्द की जीवन कथा अब 'अद्भुत सन्त अद्भुतानन्द' के नाम से रामकृष्ण मठ, नागपुर से प्रकाशित हो गयी है। अतः इस अंक से यह धारावाहिक समाप्त किया जा रहा है।

—सम्पादक

श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम

रामकृष्ण निलयम्

फोन : २६३६ जयप्रकाश नगर, छपरा-८४१३०१ (बिहार)

विनम्र निवेदन

श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम की स्थापना भगवान श्रीरामकृष्ण के एकमात्र गैर-बंगाली शिष्य और स्वामी विवेकानन्द के गुरु-भ्राता स्वामी अद्भुतानन्द जी महाराज की स्मृति में १९८४ ई० में की गयी। स्वामी अद्भुतानन्द जी का जन्म बिहार राज्य के छपरा जिला के एक गाँव में एक निर्धन गड़ेरिया परिवार में हुआ था। निरक्षर होने पर भी श्रीरामकृष्ण के आध्यात्मिक निर्देशन में वे ब्रह्मज्ञ हुए और स्वामी विवेकानन्द ने श्रीरामकृष्ण की अद्भुत सृष्टि जानकर उन्हें स्वामी अद्भुतानन्द नाम से अभिहित किया।

आश्रम ने प्रायः २ एकड़ भूमि ९६,००० रुपये में बिहार सरकार से अर्जित की। श्री रामकृष्ण के बिहार एवं बिहार के बाहर के भक्तों के कृपापूर्ण दान से ३५००० वर्गफीट में स्वामी अद्भुतानन्द स्मृति-भवन का निर्माण हो रहा है जिसमें भगवान का एक गर्भगृह (मन्दिर), प्रार्थना भवन, २ कमरों का स्नानागार युक्त संत-निवास एक बड़ा पुस्तकाय कक्ष, एक दातव्य औषधालय कक्ष, कार्यालय-कक्ष, भोजनालय, रसोई घर, राहत-भवन, भण्डार गृह आदि संयुक्त हैं। इसमें अब तक ७ लाख रुपये व्यय हो चुके हैं। निर्माण कार्य समाप्तप्राय है। किन्तु इसे अन्तिम रूप देने में अभी लगभग २ लाख रुपये और लगने की सम्भावना है।

अतः आपसे हमारा आन्तरिक एवं विनम्र निवेदन है कि इस महत् कार्य में अपनी सामर्थ्य एवं गरिमा के अनुरूप उदारतापूर्ण दान देकर हमें कृतार्थ करें। इस कार्य में बड़ा दान भी कम है और कम दान भी बहुत बड़ा है। आपका कोई भी दान हमारे लिए बहुत बड़ा सम्बल सिद्ध होगा।

प्रेम और शुभेच्छाओं के साथ

प्रभु सेवा में आपका

डा० केदार नाथ लाभ

सचिव

ध्यातव्य : (१) सभी प्रकार के दान सधन्यवाद स्वीकार किये जायेंगे।

(२) चेक या बैंक ड्राफ्ट "श्री रामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम" छपरा के नाम से क्रॉस किये हुए होने चाहिए।

(३) श्री रामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम को दिये गये सभी दान आय-कर के अधिनियम ८० जी. के अन्तर्गत आय-कर से मुक्त हैं।

डाक पंजीयित संख्या – सी. एच. पी. – १४–८३

स्वामी विवेकानन्दकृत सम्पूर्ण साहित्य

योग

पुस्तक	मूल्य
ज्ञानयोग	१४.००
राजयोग (पातंजल योगसूत्र, सूत्रार्थ और व्याख्यासहित)	९.००
प्रेमयोग	६.००
कर्मयोग	६.००
भक्तियोग	६.००
ज्ञानयोग पर प्रवचन	२.००
सरल राजयोग	२.००

धर्म तथा अध्यात्म

पुस्तक	मूल्य
धर्मविज्ञान	५.००
धर्मतत्त्व	४.५०
धर्मरहस्य	३.००
हिन्दूधर्म	६.००
हिन्दूधर्म के पक्ष में	२.००
शिकागो वक्तृता	१.५०
नारदभक्तिसूत्र एवं भक्तिविषयक प्रवचन और आख्यान	३.००
भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्गीता	५.००
भगवान बुद्ध तथा उनका सन्देश	[illegible].००
देववाणी (उच्च आध्यात्मिक उपदेश)	१२.००
कवितावली (आध्यात्मिक अनुभूतिमय काव्य)	४.००
वेदान्त	६.२५
व्यावहारिक जीवन में वेदान्त	३.५०
आत्मतत्त्व	३.५०
आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग	५.००
मरणोत्तर जीवन	१.५०

जीवनी

पुस्तक	मूल्य
महापुरुषों की जीवनगाथाएँ	६.००
मेरे गुरुदेव	२.५०
ईशदूत ईसा	१.००
पवहारी बाबा	२.००

सम्भाषणात्मक

पुस्तक	मूल्य
विवेकानन्दजी के संग में	१३.००
स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप	५.००
विवेकानन्दजी के संस्मरण	५.००
विवेकानन्दजी के सान्निध्य में	३.००

विविध

पुस्तक	मूल्य
विवेकानन्द साहित्य संचयन (महत्त्वपूर्ण व्याख्यान, लेख, पत्र काव्य आदि का प्रातिनिधिक संचयन)	२५.००
,, (सस्ता संस्करण)	१५.००
पत्रावली — (धर्म, दर्शन, शिक्षा, समाज राष्ट्रोन्नति इत्यादि सम्बन्धी स्फूर्तिदायी पत्र)	२१.००
भारतीय व्याख्यान	२०.००
भारत का ऐतिहासिक क्रमविकास एवं अन्य प्रबन्ध	४.००
हमारा भारत	१.५०
वर्तमान भारत	२.५०
नया भारत गढ़ो	२.५०
भारतीय नारी	४.००
जाति, संस्कृति और समाजवाद	४.००
शिक्षा	५.५०
सार्वलौकिक नीति तथा सदाचार	३.५०
मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनाएँ	१.५०
विविध प्रसंग	९.००
चिन्तनीय बातें	४.००
परिव्राजक (मेरी भ्रमणकहानी)	४.५०
प्राच्य और पाश्चात्य	४.५०
युवकों के प्रति	१०.००
विवेकानन्द — राष्ट्र को आह्वान (पॉकेट साईज)	१.२५
शक्तिदायी विचार (,,)	१.००
सूक्तियाँ एवं सुभाषित (,,)	१.००
मेरी समर-नीति (,,)	१.००
मेरा जीवन तथा ध्येय (,,)	१.००

प्रकाशक : रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर–४४००१२

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
श्रीकांत लाभ द्वारा जनता प्रेस, नया टोला, पटना – ४ में मुद्रित।